



उत्तर प्रदेश

स्वाधीनता

संग्राम की रुक

रूकती



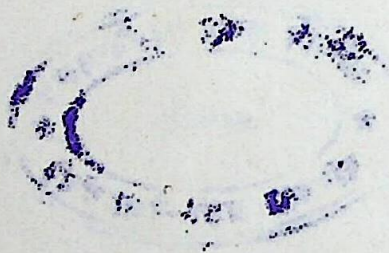


उत्तर प्रदेश  
स्वाधीनता संग्राम की एक झाँकी



लेखक  
कन्हैया लाल मिश्र 'प्रभांकर'

सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उत्तर प्रदेश  
लखनऊ



प्रथम संस्करण 19 नवम्बर, 1972  
द्वितीय संस्करण 19 नवम्बर, 1983  
तृतीय संस्करण 19 नवम्बर, 1985

मुद्रक :  
युनाइटेड ब्लॉक प्रिन्टर्स  
78, गौतम बुद्ध मार्ग  
लखनऊ ।

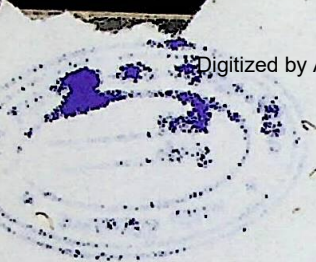


## प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी



नई पीढ़ी आज पूरे विश्वास के साथ राष्ट्रनेता श्रीमती इंदिरा गांधी के झंडे के नीचे खड़ी है। उन्हीं के जन्म-दिन पर स्वाधीनता-संग्राम की यह मनीरम झांकी नई पीढ़ी के नाम अर्पित है।

—मुख्य मंत्री कमलापति त्रिपाठी





## नई पीढ़ी के नाम



नई पीढ़ी, जो किशोरावस्था को पार कर तरुणाई के द्वार पर दस्तक दे रही है, नहीं जानती कि जिस स्वतन्त्रता के सुखों का वह उपभोग कर रही है, वह स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हुई और उसे प्राप्त करने में पुरानी पीढ़ियों ने क्या-क्या सहा? यह जाने बिना यह भी नहीं जाना जा सकता कि उस स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए हमारा क्या कर्तव्य है। इसी भावना से यह छोटी पुस्तक प्रकाशित की जा रही है।

इतने पृष्ठों में देश के सबसे बड़े राज्य के स्वाधीनता-संग्राम का सम्पूर्ण इतिहास तो दिया ही नहीं जा सकता। हजारों कार्यकर्ता हैं, जिन्होंने स्वतन्त्रता के लिए इस राज्य में महत्वपूर्ण कार्य किया है और बलिदान दिया है। असल में यह तो

उस इतिहास की एक झाँकी है। इस झाँकी की विशेष बात यह है कि लेखक ने पूरे देश के इतिहास की पृष्ठभूमि देकर उत्तर प्रदेश की घटनाओं को चित्रित किया है। इससे यह झाँकी उन सबके लिए स्वाधीनता-संग्राम का परिपूर्ण चित्र बन जाती है, जिन्होंने उस संग्राम में भाग नहीं लिया और उस संग्राम को नहीं देखा।

देश के गुलाम होने का इतिहास भी एक झाँकी के रूप में आरम्भ में दो अध्यायों में लेखक ने दे दिया है। इससे स्वाधीनता-संग्राम की यह झाँकी तो पूर्ण हुई ही, पाठकों को यह सोचने का अवसर भी मिलता है कि हमारे राष्ट्रीय चरित्र में वे कौन से दोष हैं, जिनके कारण अंग्रेजों से अधिक शक्तिशाली और बुद्धिमान होते हुए भी भारत गुलाम हो गया और यदि वे दोष स्वतन्त्रता के बाद भी हम में हैं, तो हम उन्हें कैसे दूर करें।

क्रान्तिकारियों, सामन्तों और साहित्यकारों की उचित चर्चा से इतिहास की यह झाँकी पृष्ठ हुई है और संस्मरणात्मकता से सरस, यह प्रशंसा की बात है।

नई पीढ़ी आज पूरे विश्वास के साथ राष्ट्रनेता श्रीमती इंदिरा गाँधी के झण्डे के नीचे खड़ी है। उन्हीं के जन्म-दिन पर स्वाधीनता-संग्राम की यह मनोरम झाँकी नई पीढ़ी के नाम अर्पित है। मुझे आशा है कि यह झाँकी नई पीढ़ी के उस विश्वास को नया उत्साह देगी।

इंदिरा जन्म-दिवस

19 नवम्बर, 1972

कमलापति त्रिपाठी

(मुख्य मन्त्री, उत्तर प्रदेश)







## वृत्त-क्रम

|                                       |   |     |
|---------------------------------------|---|-----|
| 1. हम हारे नहीं; बिके                 | — | 1   |
| 2. हर झंडे की फहरान के नीचे           | — | 6   |
| 3. 'हम गिरे, गिरकर उठे, उठ कर चले'    | — | 18  |
| 4. शानदार शामियाने में                | — | 21  |
| 5. अपने घर के हम खुद हाकिम            | — | 24  |
| 6. जाग उठी हल वाले                    | — | 28  |
| 7. आनन्द भवन की मशाल                  | — | 31  |
| 8. जागी मस्जिद, जागे मंदिर-गुरुद्वारे | — | 35  |
| 9. भयमुक्ति का पावन पर्व              | — | 44  |
| 10. वक्त्र पुराने—राह नई              | — | 49  |
| 11. खूनी फाग खेलने वाले               | — | 52  |
| 12. स्वामी अछूतानन्द की कफनी          | — | 56  |
| 13. काला स्वागत—खूनी मार              | — | 58  |
| 14. मेरा रंग दे बसन्ती चोला           | — | 61  |
| 15. समझौते से संघर्ष की ओर            | — | 76  |
| 16. फिर बाजी रणभेरी                   | — | 79  |
| 17. काले सीखचों के पीछे               | — | 87  |
| 18. काल-कोठरियों से कुर्सियों पर      | — | 96  |
| 19. सर बाँधे कफनिया हो                | — | 103 |
| 20. शहीदों की टोली निकली              | — | 110 |
| 21. सामन्तवाद के दुर्गम दुर्गों में   | — | 114 |
| 22. कलम भी निष्क्रिय नहीं रही         | — | 119 |
| 23. रात में सूरज आज उगा               | — | 122 |

\* \* \*





# 1 : हम हारे नहीं; बिके

15 अगस्त, सन् 1947 से ठीक एक सौ साल पहले ।

1847 की बात है ।

हिन्दुस्तान भर में अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी का दबदबा और मायाजाल एक बराबरी की सरकार की तरह छाया हुआ था, फिर भी हिन्दुस्तान स्वतन्त्र था और दिल्ली के बादशाह बहादुर शाह जफर के सामने ईद-मुबारक और जन्मदिन जैसे महोत्सवों पर अंग्रेज गवर्नर-जनरल और कमान्डर-इन-चीफ खुद दरबार में हाजिर होकर और दरबारी परम्पराओं के अनुसार झुक कर नजर पेश किया करते थे । इसका मतलब होता था कि वे हिन्दुस्तान में बादशाह की प्रभु-सत्ता, यानी हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता स्वीकार करते हैं और अपनी अधीनता भी ।

1837 में जब बहादुरशाह गद्दी पर बैठे और उनका राज्यारोहण समारोह धूमधाम से मनाया गया तो लार्ड आर्कलैन्ड ने नजर पेश की थी और जार्ज एलेनबरो के शासन-काल तक इस परम्परा का पालन किया गया था, पर अब अचानक इसे रोक दिया गया । क्या यह एक परम्परा को बदलने का ही कार्य था ? न, यह तो अंग्रेजी कूटनीति का भयंकर मायाजाल था; हिन्दुस्तान को पूरी तरह गुलाम बनाने की योजनापूर्ण कूटनीति का ही एक अंग था ।

दिल्ली दरबार में ईस्ट इंडिया कम्पनी के राजदूत मेटकाफ को अपने एक गोपनीय पत्र में अंग्रेज गवर्नर जनरल लार्ड हाडिंग ने लिखा—

“सम्राट की शान और दबदबे की बहुत-सी निशानियाँ उतर चुकी हैं । उस शानोशीकत की पहली-सी चमक-दमक अब नहीं रही । सम्राट के वे विशेषाधिकार, जिन पर तैमूरी खानदान को गर्व था, एक के बाद एक छिन चुके हैं, इसलिए बहादुरशाह के मरने के बाद कलम के एक डोबे में बादशाह की उपाधि का अन्त कर देना कुछ भी कठिन नहीं है । बादशाह को नजर, जो गवर्नर जनरल और कमान्डर-इन-चीफ देते थे, बन्द हुई । कम्पनी का सिक्का, जो बादशाह के नाम से

ढाला जाता था, वह भी बन्द कर दिया गया। गवर्नर जनरल की मुहर में पहले जो 'बादशाह का फिदवी-ए-खास' (खास सेवक) शब्द रहते थे। वे निकाल दिये गए। इन सब बातों के बाद अब अंग्रेज सरकार ने फैसला कर लिया है कि दिखावे की कोई भी ऐसी बात बाकी न रखी जाये, जिससे हमारी गवर्नमेंट बादशाह के अधीन मालूम हो।"

बादशाह बहादुर शाह की उम्र बुढ़ापे का दौर पार कर रही थी और शेर-शायरी एवं उनकी नौजवान बेगम जीनत महल ही उनकी सांस थीं। इन सांसों से वे ज्यादा दिन जीने वाले नहीं थे और इस प्रकार अंग्रेज बेफिक्र थे, हिन्दुस्तान की आजादी को खत्म मान चुके थे और ठीक ही सोच रहे थे कि कुछ ही वर्षों में हिन्दुस्तान की यह नाममात्र की बाबशाहत बिना किसी लड़ाई के आप ही आप डूब जायेगी।

यह इतिहास का कैसा संयोग है कि कलाइव ने पलासी के मैदान में अंग्रेजी राज्य की जो जीव 1757 में पक्की की थी, वह 1857 में एक बड़े भूकम्प के बाद राजमहल बन गई और 1847 में हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता का जो जहाज अंधेरे के समुद्र में डूब गया था, वह 1947 में नई शक्ति के साथ किनारे आ लगा।

1757 से 1857 की एक शताब्दी।

1847 से 1947 की एक शताब्दी।

पहली शताब्दी को समझने की कुंजी है पलासी का युद्ध, जिसे स्वार्थ की स्याही में डूबी कलमों ने युद्ध का नाम और रूप देकर इतिहास के सिर थोप दिया, पर जो असल में इतिहास का एक भयानक धोखा था, घृणित विश्वासघात का एक नरकीय कलंक था, एक बदनसीब इन्साज को वर्वाद कर बंद सिद्ध करने की गन्दी चाल थी और कुछ भी नहीं।

आइये, पलासी चलें। 12 जून 1757 को कलकत्ते की अंग्रेजी फौज चन्द्र नगर की फौज से मिली और चन्द्र नगर की रक्षा के लिए कुल 150 गोरे सैनिकों को छोड़ मुर्शिदाबाद के नवाब सिराजुद्दौला से लड़ने के लिए आगे बढ़ गई। कलाइव की इस सेना में 650 यूरोपियन, 150 पैदल गोलन्दाज, 50 नाविक, 2,100 हिन्दुस्तानी सिपाही और थोड़े से पुर्तगीज सैनिक थे। इन सबकी संख्या 3,000 से ज्यादा नहीं थी।

कहाँ कलकत्ता, कहाँ मुर्शिदाबाद। फिर रास्ते में हुगली और कटोया के किलों पर नवाब की सेना का कब्जा और उनसे आगे अग्रद्वीप और पलासी की छावनियों में नवाब की भरपूर सेना। सामने इठलाती बाढ़ की नदी की भयानक धारा और हंसते-हंसते उसे पार कर जाने के इरादों से भरी खरगोशों की टोली, इन इरादों का आधार क्या है? नवाब सिराजुद्दौला का मुख्य सेनापति मीर जांफर अपने नवाब और देश से गद्दारी कर अंग्रेजों से



मिल गया था। मुशिदाबाद के जगतसेठ अमीचन्द ने विश्वासघात का यह ताना-बाना बुना था। उसे तीस लाख रुपये की रिश्वत का वचन दिया गया था और मीर जाफर को नवाब की गद्दी का। राम दुर्लभ, यार-लतीफ जैसे सेनापति भी इस विश्वासघात में शामिल थे। मीर जाफर क्लाइव को भरोसा दे, चुका था कि हुगली और कटोया में हमारी फौज लड़ाई नहीं, लड़ाई का नाटक करेगी और हार मान लेगी, पर हुगली में यह नाटक भी नहीं हुआ और हुगली के फौजदार ने क्लाइव की फौज को इस तरह सामने से गुजर जाने दिया जैसे वह किसी पड़ोसी की बारात हो।

हुगली का विजेता होकर भी क्लाइव के पैर आगे बढ़ने में काँप रहे थे। मराठों के साथ लड़ाई के कारण कटोया का किला अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध हो चुका था। क्लाइव मीर जाफर का नया सन्देश पाये बिना कटोया पहुँचने का साहस नहीं कर सकता था। फिर यह भी सम्भावना थी कि हुगली का समाचार पाकर नवाब सिराजुद्दौला मीर जाफर को पदच्युत कर गिरफ्तार कर ले। ऐसा हो, तो क्लाइव और उसकी मड़लू फौज की मीत निश्चित थी, पर हुआ यह कि सिराजुद्दौला अपनी मर्यादा को भूल स्वयं पालकी में बैठ मीर जाफर के घर गया और उसने देश और खानदान की इज्जत बचाने की प्रार्थना की। मीर जाफर ने कुरान शरीफ पर हाथ रख झूठी कसम खाई और नवाब लौट आया।

16 जून, 1757 को मीर जाफर ने क्लाइव को सन्देश भेजा कि नवाब के गुप्तचरों के कारण मैं पत्र नहीं भेज सका। संदेह का एक अंकुर भी पैदा होने से बना बनाया काम विगड़ सकता है, तुम आगे बढ़ो, कटोया में लड़ाई का मामूली नाटक ही होगा। देश का रक्षक ही देश का भक्षक बन गया था।

क्लाइव इतना घबराया हुआ था कि विश्वासघात की यह दस्तावेज पाकर भी आगे नहीं बढ़ा। उसने मेजर कूट को 200 अंग्रेज और 300 हिन्दुस्तानी सिपाहियों के साथ कटोया भेजा। वहाँ का फौजदार गद्दार था, वह थोड़ी देर लड़ाई का नाटक कर और स्वयं ही शोषणियों में आग लगाकर अपनी फौज के साथ वहाँ से भाग गया। इससे कटोया के नागरिक भी घबरा गए और अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भाग गए। मुर्तसान कटोया शहर में क्लाइव को इतने चावल मिले कि दस हजार सिपाही एक साल भर तक अपना पेट भर सकें।

कटोया में मीर जाफर का नया संदेश नहीं मिला तो क्लाइव फिर परेशान हो गया। उसके साथी जंग पार कर आक्रमण करने के पक्ष में थे, पर क्लाइव ने बाद में खुद इंग्लैंड की पार्लियामेंट के सामने कहा था—“मैं बेहद डरा हुआ था कि अगर यहाँ हार हुई तो हार की खबर ले जाने के लिए भी कोई आदमी जिन्दा नहीं बचेगा।” 21 जून, 1757 को मीर जाफर का नया पत्र पाये पर ही क्लाइव आगे बढ़ा। स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता के मजबूत दुर्ग को विदेशी नहीं, स्वयं हिन्दुस्तान के ही कपूत तोड़ रहे थे।

X

X

X



तेजनगर के मैदान में नवाब सिराजुद्दौला ने पड़ाव डाल रखा था। क्लाइव ने लक्खी बाग के मैदान में पड़ाव डाला। रात भर क्लाइव और उसके सेनापति देवैन रहे, क्योंकि उनके पास तीन हजार सिपाही थे और नवाब के पास पैंतालिस हजार। क्लाइव अपनी ताकत से नहीं, मीर जाफर के विश्वासघात से ही जीत सकता था।

23 जून, 1757 को सिराजुद्दौला ने अपने सेनापतियों को आगे बढ़ने का आदेश दिया। आठ बजे वफादार सेनापति मीर मदन ने अपनी तोपों में पलीता लगाया। अंग्रेजी तोपों ने उनका जवाब दिया। कुल आधे घण्टे में ही क्लाइव की बहादुरी दम तोड़ने लगी। उसने हिसाब लगाया कि हर मिनट पर उसका एक सिपाही मर रहा है और कई घायल हो रहे हैं, तो तीन हजार आदमी कितनी देर टिकेंगे।

क्लाइव और उसकी सेना मैदान छोड़ कर बाग में भाग गई और एक-एक सिपाही एक-एक पेड़ के पीछे छिप गया। मशहूर है कि लक्खीबाग में एक लाख पेड़ थे। धबराहट इतनी थी कि क्लाइव की चार तोपें बाग में पहुँचीं तो शेष मैदान में ही रह गयीं। मीर मदन की तोपें बाग पर आग बरसा रही थीं और क्लाइव का शरीर थर-थर कांप रहा था। यह हालत तब थी जब अकेले मीर मदन की सेना ही लड़ रही थी। मीर जाफर, राम दुर्लभ, यार लतीफ और उनकी सेनायें तो तमाशबीनों की तरह मैदान में खड़ी थीं और उन्होंने गोली-गोला तो दूर, एक डला भी न फेंका था। इतिहास ने ऐसा युद्ध और कहीं देखा है कि दुश्मन से कई गुनी ताकतवर सेनायें दुश्मन को हराने के लिए नहीं, दुश्मन से हारने के लिए ही मोर्चे पर आई हैं।

हाय रे दुर्भाग्य, दोपहर होते ही मूसलाघार वर्षा होने लगी, बारूद भीग गया, तोपों की प्रहार-शक्ति मुलायम पड़ गई और हाय-हाय वज्रपात कि अंग्रेजी सेना के एक गोले ने स्वामिभक्त सेनापति मीर मदन की जाँघ तोड़ दी। उसकी इच्छा के अनुसार उसे नवाब के सामने ले जाया गया। उसने नवाब से सेनापतियों के विश्वासघात की बात कही और वहीं दम तोड़ दिया।

दूसरे स्वामिभक्त सेनापति महाराज मोहन लाल ने आगे बढ़कर मीर मदन का स्थान संभाल लिया और लक्खी बाग पर प्रलय बरसा दी। मीर मदन की बात सुनकर भी सिराजुद्दौला ने मीर जाफर को गिरफ्तार नहीं किया, उल्टे-उसे अपने डेरे में बुलाकर अपना राजमुकुट उसके पैरों में रख दिया। मीर जाफर ने फिर वफादारी का नाटक रचा, कसमें खाई और सलाह दी कि अब शांति हो रही है, फौजों को मैदान से पड़ाव में बुला लिया जाये। सुबह हम ताजा दम हमला करेंगे और कल का दिन हमारी फतह का दिन होगा।

भोला-भाला इंसान, विश्वासी नौजवान नवाब सिराजुद्दौला फिर उसकी बातों में आ गया। उसने मोहन लाल को आदेश भेजा कि लड़ाई बंद कर मैदान से पड़ाव में लौट आये। मोहन लाल ने मैदान छोड़ने से इन्कार कर दिया और कहलाया कि लड़ाई का फैसला होने



में अब ज्यादा देर नहीं है, दुश्मन घबराया हुआ है। मैदान छोड़ने से सेना का छत्रभंग होगा और सर्वनाश हो जायेगा।

सुनकर मीर जाफर परेशान हो गया, पर उसने कसमें खा-खाकर नवाब से अपनी बात मनवा ली और मोहन लाल को दूसरा आदेश भिजवा दिया। सेना का अनुशासन बड़ी चीज है। मोहन लाल अपनी सेना के साथ पंक्तिबद्ध होकर पीछे हटने लगा। तभी मीर जाफर ने क्लाइव को संदेश भेजा—“मीर मदन मर गया। अब छिपने की जरूरत नहीं। इच्छा हो, तो इस समय, नहीं तो रात में तीन बजे आक्रमण करो। पूरी सफलता मिलेगी।”

संदेश मिलते ही अंग्रेजी सेना बाग से बाहर आ गई और आगे बढ़ने लगी। वीर मोहन लाल का खून खौल उठा और लौटते-लौटते वह फिर सामने आ-डटा। फ्रांसीसी सेनापति सिनफे ने भी मोहन लाल का साथ दिया। युद्ध फिर जम गया, पर इसी समय दुष्टात्मा राम दुर्लभ के कुचक्र में फँसकर कि राजधानी को बचाना आवश्यक है, सिर्फ एक ही साल पहले तानाह और कलकत्ते में अंग्रेजों को पागल कुत्ते की तरह पीटने-परास्त करने वाला सिराजुद्दीला अपने हाथी पर चढ़कर मुर्शिदाबाद की ओर भाग चला। यह खबर पाते ही गद्दार मीर जाफर 45,000 सेना के साथ क्लाइव की सेना से जा मिला।

इस प्रकार 23 जून, 1757 की शाम को हिन्दुस्तान की गुलामी की नींव पक्की हो गई। 1847 में अंग्रेज गवर्नर जनरल इसी पक्की नींव पर हिन्दुस्तान की बादशाहत को कलम के एक डोबे में डुबा कर अपना राजमहल बनाने के इरादे बांध रहा था।

• • •

## 2 : हर झंडे की फहरान के नीचे

विद्रोह वह करेगा जो अपना रक्त बहाने की तैयार होगा। हिन्दुस्तान को पूरी तरह गुलाम बनाने के लिए अंग्रेजों के जो इरादे बुलन्द हो रहे थे, उन पर विद्रोह का ऐसा हथौड़ा पड़ा कि वे तिलमिला उठे। इस विद्रोह में खूब रक्त बहा, पर उसकी जो पहली बूंद पृथ्वी पर पड़ी, वे उत्तर प्रदेश के ही रक्त की बूंद थीं। इन बूंदों की कहानी बड़ी रोमांचक है।

भरा-पूरा हिन्दुस्तान उजाड़ हो चला था। अंग्रेजों ने एक को दूसरे के विरुद्ध लड़ाकर और हर एक के घर में रिश्तों के जोर से विश्वासघातियों को बढ़ावा देकर जमे हुए खानदानों को, जो उस समय की समाज-व्यवस्था के मजबूत स्तम्भ थे, उखाड़ फेंका था। इंग्लैंड के हितों के लिए हिन्दुस्तान के उद्योग-धंधे, जो उस समय सारी दुनिया में सर्वश्रेष्ठ थे, बर्बाद कर दिए गए। सारे हिन्दुस्तानियों को ईसाई बनाने के लिए गहरे जाल फैला दिए गए और इस तरह संस्कृति-सम्यता, व्यापार, व्यवसाय और शिक्षा में सर्वश्रेष्ठ देश को हमेशा के लिए गुलाम बनाये रखने के पक्के इरादे बांध लिये गए।

इन इरादों पर विद्रोह का जो हथौड़ा पड़ा, उसका निर्माण भी कानपुर के पास बिठूर में ही हुआ, उसका पहला बिगुल भी मेरठ में बजा और उसके लिए सबसे भयंकर खूनी संघर्ष भी लखनऊ में ही हुआ।

अंतिम मराठा पेशवा बाजीराव को उनके राजा के बदले में उनके परिवार और आश्रितों के भरण-पोषण के लिए अंग्रेजों ने आठ लाख रुपये साल की पेंशन देने का समझौता किया। वे कोई आठ हजार आदमियों के साथ बिठूर में रहने लगे। नाना धुन्धुपन्त उनके दत्तक पुत्र थे। 1851 में पेशवा की मृत्यु होते ही अंग्रेजों ने वह पेंशन बन्द कर दी। नाना धुन्धुपन्त ने अजीमुल्ला खाँ को अपना वकील बनाकर लन्दन भेजा, पर उनके जाने से पहले ही दोनों के बीच उस महान विद्रोह की योजना बन गई जो इतिहास में '1857 का गंदर' के नाम से विख्यात हुई। लन्दन में अजीमुल्ला खाँ को सतारा के पदच्युत राजा का वकील रंगोबापू जी मिला। दोनों ने विद्रोह की उस योजना को विकसित किया, देशव्यापी रूप



दिया। अब दक्षिण भारत में रंगीवापू जी और उत्तर भारत में अजीमुल्ला खाँ विद्रोह के मुख्य प्रचारक और पूरे हिन्दुस्तान में नाना साहब उसके नेता बने।

नाना साहब महान नेता सिद्ध हुए। उनके नेतृत्व की पहली विशेषता थी यह समझ लेना कि अलग-अलग क्षेत्रों के, धर्मों के, जातियों के हिन्दुस्तानी शक्तिपुरुष राजा-नवाब अलग-अलग रहकर मुट्ठी भर अंग्रेजों से पिट गए हैं। इसलिए मुख्य कार्य इन सबके बीच राष्ट्रीय एकता का सूत्र पिरोना है। दूसरी यह कि वे समझ गए थे कि अंग्रेजी फौज को अगर हिन्दुस्तानी फौज का सहयोग न मिले तो वह न हिन्दुस्तान को गुलाम बना सकती है, न बनाये हुए को गुलाम रख सकती है, इसलिए हिन्दुस्तानी सिपाहियों में विद्रोह के बीज बोना आवश्यक है। तीसरी यह कि वे समझ गए थे कि शक्ति-पुरुष राजा-नवाब-जमींदार और हिन्दुस्तानी फौजें मिलकर भी अंग्रेजों को उखाड़ने में सफल नहीं हो सकती, यदि जनता में उनके प्रति सद्भाव और अंग्रेजों के प्रति विरोध के भाव न हों। नाना साहब के नेतृत्व का अभिनन्दन कि पूरे देश में विद्रोह की पूरी तैयारी हुई, पर कहीं भी उसमें रहस्य-भेद नहीं हुआ। विद्रोह के पाँच केन्द्र—बिठूर, लखनऊ, दिल्ली, कलकत्ता और सतारा रात दिन काम कर रहे थे।

विद्रोह के लिए आखिर 31 मई, 1857 की तारीख तै कर दी गयी, पर उससे दो महीने पहले ही एक विस्फोट हो गया। यह है 29 मार्च, 1857 और स्थान धरकगुर, बंगाल। वीर सिपाही मंगल पाण्डे भड़क उठा और परेड-प्राउन्ड में उसने साधियों को विद्रोह के लिए ललकारा। यह है सामने ही सार्जेंट मेजर ट्यूसन। मंगल पाण्डे की रायफल उठी, गरजी-धड़ाम और वह धरती पर गिरा ट्यूसन का शव-धम।

घोड़े पर चढ़ा यह आ गया लेफ्टिनेन्ट बॉब। पाण्डे की रायफल फिर धड़की-धड़ाम, बॉब और उसका घोड़ा दोनों ही लेट गए, पर बॉब संभल कर उठा, गोली दागी, पर घबराहट में निशाना चूक गया। मंगल पाण्डे ने नई गोली भरने की कोशिश की, पर समय कम था। यह छाती के सामने ही तो है बॉब; पाण्डे की तलवार बिजली-सी कौंधी कि बॉब अब बॉब न था, लाश के दो टुकड़े हलके-हलके फड़क रहे थे—खून में लथपथ, मिट्टी में सने।

खबर पाकर अंग्रेज सिपाहियों के साथ आ पहुँचा कर्नल हियर्सी। पाण्डे अब बलि लेने को नहीं, आहुति देने को प्रस्तुत। उसकी रायफल की नली, उसके ही हाथों, स्वयं उसकी तरफ। हर-हर महादेव, खटाक, धम, गीली चली, पर ठीक न बैठी, घायल मंगल पाण्डे पकड़ा गया और 8 अप्रैल 1857 को फाँसी पर चढ़ विद्रोह का पहला शहीद बना।

यह थी उत्तर प्रदेश के खून की वूँदें, यह थी उत्तर प्रदेश की पहली शहादत, मंगल पाण्डे हमारे बलिया का नागरिक, जिसकी प्रतापी वेदु को और तो और, फौज के भंगी भी फाँसी पर लटकाने को तैयार नहीं हुए—कलकत्ता से चार आदमी बुलाने पड़े।

और यह है उत्तर प्रदेश का नगर मेरठ और 6 मई, 1857 की तारीख। नब्बे हिन्दुस्तानी सिपाहियों को नये कारतूस दिए गए। मशहूर था कि इनमें गांधे-मुअर की चर्बी



लगी है और इन्हें मुँह से तोड़कर बन्दूक में भरा जाना था। पचासी सिपाहियों ने उन्हें छूने से भी इन्कार कर दिया। 9 मई, 1857 को इन्हें पूरी हिन्दुस्तानी फौज के सामने बेड़ियाँ पहनाई गई, इनकी वर्दियाँ उतारी गई और इन्हें दस-दस साल की कैद का दण्ड सुनाकर जेल भेज दिया गया। बाकी लोग 31 मई, 1857 के लिए चुप रहे, पर नगर की स्त्रियों ने इसे कायरता कहकर धिक्कारा, तो 10 मई, 1857 को आग भड़क उठी। जेल की दीवार तोड़कर 85 सिपाहियों को छुड़ा लिया गया और जहाँ जो अंग्रेज मिला, कत्ल किया गया, अंग्रेजों के बंगले धू-धू कर जल उठे। मुसलमानों का नारा था—दीन-दीन, हिन्दुओं का नारा था—हर-हर महादेव और दोनों का सम्मिलित नारा था—मारो फिरंगी को।

मेरठ में अंग्रेजी सत्ता को समाप्त कर विद्रोही सेना भारत की राजधानी दिल्ली जा पहुँची और लाल किले के सामने पहुँच बादशाह बहादुर शाह जफर को सलामी दी। बादशाह का प्रश्न था—“मेरे पास खजाना नहीं है, मैं तुम्हें तनखाह कहाँ से दूँगा ?” विद्रोहियों का उत्तर आत्मविश्वास से प्रदीप्त था—“हम हिन्दुस्तान भर के अंग्रेजी खजाने आपके कदमों में ला रखेंगे।” बस फिर क्या था, अंग्रेजों पर मौत बरस पड़ी और बादशाहत को कलम के एक ही डोबे में डुबाने वाले अपने ही खून की नदी में डूब गए। दिल्ली 16 मई, 1857 को आजाद हो गई।

क्या हो गया युद्ध समाप्त ? क्या झुक गया लखनऊ में फहराता हरा झण्डा ? क्या हार मान ली आजादी की ज्वाला ने, विद्रोही सेना ने ? ‘हर-हर महादेव’ और ‘मारो फिरंगी को’ के नारे क्या ठण्डे पड़ गए ? यह अंगीठी, चूल्हे और भट्ठी की आग नहीं है कि झमके, लपके और बुझ जाये, यह आजादी की आग है कि जलती है, तो गुलामी के अम्बार को जलाकर ही चैन लेती है भले ही उसके अंगारे बीच-बीच में राख से ढँके जाते रहें। रेजी-डेंसी अब एक बड़ी जेल थी, विद्रोही सेना और विद्रोही जनता-से घिरी कि रेजीडेंसी का मुक्तिदाता बनकर आया हैबलाक, पर विद्रोहियों से पराजित होकर उसकी सेना भी अब रेजीडेंसी में कैद थी।

हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सेनाओं का नया कमाण्डर-इन-चीफ सर कालिन कैम्पबेल जब 13 अगस्त, 1857 को इंग्लैंड से कलकत्ता पहुँचा, तो उसे पहली खबर इस मद की ही मिली। उसने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास से ही नहीं, लंका, इंग्लैंड और चीन से भी अंग्रेज प्लटनें इकट्ठी की, नयी-नयी तोपें भी अपने कारखाने में ढलवाई और तब वह पूरी ताकत के साथ लखनऊ की ओर चला। एक जहाजी बेड़ा भी गंगा के रास्ते इलाहाबाद की ओर बढ़ा। 3 अक्टूबर, 1857 को कैम्पबेल कानपुर पहुँचा और एक विशाल सेना को संगठित करने लगा। ब्रिगेडियर जनरल ग्रान्ट इसके सेनापति थे। जहाजी बेड़ा भी कानपुर पहुँच गया। दिल्ली में विद्रोह दबाया जा चुका था। वहाँ की सेना और उसका सेनापति ग्रेटहैंड भी कानपुर पहुँच गया। जहाजी बेड़े को रास्ते में विद्रोहियों ने जगह-जगह टक्कर दी और उसके कप्तान पावेल को गोली से उड़ा दिया। दिल्ली की सेना को तो जगह-जगह विद्रोहियों ने करारी टक्करें दीं ही; क्योंकि यह सारा इलाका इस समय भी विद्रोहियों के हाथ में था।



गांवों का जलाना और नागरिकों का पशुओं की तरह शिकार करना, अंग्रेजों के लिए उन दिनों मामूली बात थी, पर आजादी के दीवाने तो मौत से भी जूझने को तैयार थे ।

14 नवम्बर, 1857, खूनी फाग का पहला दिन । अंग्रेजी सेना जिसमें पील, ग्रेटहैड, हडसन, होपग्रान्ट, आयर, खुद कमाण्डर-इन-चीफ कैम्पबैल जिसे अनुभवही सेनापति और जिसके साथ सिक्खों और पंजाबियों की दूसरी मुस्तैद फौजें, रेजीडेंसी की ओर गोले बरसाती इधर से वहीं कि रेजीडेंसी के भीतर से हैवलाक और ऊटरम की सेना ने आग उगली-बीच में विद्रोही सेना और विद्रोही जनता, सिकन्दरबाग पर एक घमासान भिड़न्त, जान-जान क़ी बाजी ।

यह चढ़ने लगा अंग्रेजी सेना का एक सिपाही बाग की दीवार पर और यह साधा निशाना एक विद्रोही सिपाही ने कि धम्म से सिक्ख सिपाही का शव धरती पर । यह गुलामी बढ़ती बेड़ियों और उन्हें काटती आजादी की छेनियों का संघर्ष है । वह देखिये, जनरल कूपर चढ़ रहा है दीवार पर, पर वह साध रहा है एक विद्रोही भी अपना निशाना । यह गिर पड़ी कूपर की लाश भी सिक्ख सिपाही के पास । खून को देखकर जिसका खून जम जाये वह कायर, और खून देखकर जिसका खून खौल उठे वह वीर; दोनों तरफ की वीरता पूरे उफान पर । कूपर गिरा कि जनरल लम्सडेन छलांगा, जैसे उसे दीवार पर नहीं घोड़े की पीठ पर चढ़ना हो, पर, यह घोड़ा मौत का घोड़ा है कि किसी विद्रोही की बन्दूक का घोड़ा दबा और लम्सडेन का शव भी धरती पर आ पड़ा ।

अंग्रेजी सेना सिकन्दर बाग में घुस गई, पर एक भी विद्रोही ने आत्म-समर्पण नहीं किया, हार नहीं मानी और इतिहासकार मालेसन के शब्दों में—“एक-एक कमरे के लिए, एक-एक सीढ़ी के लिए और बुजियों के एक-एक कोने के लिए युद्ध होता रहा । जब अंग्रेजी सेना ने पूरी तरह बाग पर कब्जा किया, तो दो हजार से अधिक विद्रोहियों की लाशों के ढेर चारों ओर थे ।” असल में यह आजादी के खामोश शहीदों का मेला था, ऐसे मेलों का मूल्यांकन हार-जीत के पैमानों से नहीं होता, क्योंकि ये मेले बाद की हजारों-हजार पीढ़ियों में आजादी की प्यास जगाते हैं । अंग्रेजी के महाकवि वायरन के शब्द हैं :—

फ्रीडम्स बैटल वन्स बिगन,  
बिक्विड्ड फ्राम ब्लीडिंग फादर टु सन,  
दो आफन लास्ट, इज एवर वन ।

अर्थात्, आजादी की लड़ाई एक बार छिड़ी कि बस छिड़ी । फिर रुकने का नाम नहीं लेती और नये-नये रंग बदलती है । खून से लथपथ पिता अपने बेटे को विरासत में सहादत का शौक दे जाता है और इस तरह बहुत बार हाड़ मिले, तब भी आजादी की लड़ाई अन्त में जरूर विजय पाती है ।

दिलखुश बाग, आलम बाग, झाहनजफ और मोती महल में भी ऐसी ही लड़ाई लड़ी गई । इसी तरह खून के फाग खेले गये और तब नौ दिन की घमासान के बाद कमाण्डर



कैम्पबेल की सेना 23 नवम्बर, 1857 को रेजीडेंसी में कैद सेना से मिल सकी, पर अंग्रेजी सेना में अभी खुशी का पहला दीपक भी न जला था कि 24 नवम्बर को घायल जनरल हैबलाक मौत के जबड़े में जा फँसा और खबर आई कि नाना साहब के प्रधान सेनापति तात्या टोपे ने फिर से अंग्रेजी सेना को हराकर कानपुर पर हरा झण्डा फहरा दिया है।

रेजीडेंसी की फतह के बाद भी बाकी लखनऊ आजाद था और बेगम हजरत म्हल की हुकूमत में महलों पर हरा झण्डा फहरा रहा था। "लखनऊ ही इस समय क्रान्ति का सबसे बड़ा केन्द्र था। 23 फरवरी, 1858 को कमाण्डर-इन-चीफ कैम्पबेल 17,000 पैदल, 5,000 घुड़सवार और 134 तोपों के साथ कानपुर से लखनऊ की तरफ बढ़ा।" इतना ही नहीं— "पश्चिम की ओर से नेपाली 9,000 गोरखा सेना लखनऊ की ओर बढ़ी और एक दल जनरल फ्रैंक्स के नेतृत्व में और दूसरा जनरल रोकफ़्ट के अधीन लखनऊ की ओर बढ़ा। ये तीनों 25 फरवरी, 1858 को एक साथ अम्बरपुर पहुँचे।"

इन तीनों के मुकाबले अम्बरपुर किले में कुल 34 हिन्दुस्तानी सिपाही, पर उनकी ललकार ऐसी कि पहाड़ों के कलेजे लरजें। न धवराहट, न पराजय का भाव। हरेक अपनी-अपनी जगह लड़ते-लड़ते शहीद।

14 मार्च, 1858 को अंग्रेजी सेना ने लखनऊ के महलों में प्रवेश किया, पर इस बीच—"लखनऊ शहर के अन्दर नवम्बर, 1857 से मार्च, 1858 तक स्वाधीनता का युद्ध बराबर जारी रहा। अधिकांश प्रजा और उस क्षेत्र के लगभग सब राजा, जमींदार, तात्लुकेदार सच्चे उत्साह के साथ इस युद्ध में शामिल थे।

अब जरा उत्तर प्रदेश की दूसरी दिशाओं की भी एक झाँकी लें।

बुलन्दशहर गरजा—मारो फिरंगी को कि वहाँ से अंग्रेज भागे और बुलन्दशहर की गर्जना अलीगढ़ ने सुनी कि वहाँ भी हिन्दुस्तान का हरा झण्डा फहरा उठा। विद्रोह दिल्ली के बादशाह बहादुर शाह 'जफर' के फरमान से हुआ था और उनका हरा झण्डा ही विद्रोह का, यानी आजादी का झण्डा था। 31 मई, 1857 तक यह झण्डा मैनपुरी, इटावा, बरेली, शाहजहाँपुर, मुरादाबाद, बदायूँ, आजमगढ़, गोरखपुर, जौनपुर और इलाहाबाद में फहराने लगा था और जून, 1857 में कानपुर, झाँसी, सीतापुर, बहराइच, गोंडा, फर्रुखाबाद, फतेहगढ़, फँजाबाद और मुलतानपुर भी इसकी फहरान के नीचे आ गए थे।

देश भर में जगह-जगह बगावत की तलवार चमचमा रही थी और विद्रोह का नगाड़ा बज रहा था, पर उसकी शान और सच्चाई, विशालता और गहराई को समझने के लिए झाँसी और लखनऊ पर ध्यान केन्द्रित करना अनिवार्य है। ऐसा किये बिना विद्रोह के राष्ट्रीय रूप को समझना भी संभव नहीं। यही बात आश्चर्य में डालने वाली है कि देश की राजधानी दिल्ली सितम्बर, 1857 के तीसरे सप्ताह में ही फिर से अंग्रेजों के कब्जे में आ गई



थी, बादशाह बहादुरशाह गिरफ्तार हो गए थे और अंग्रेजी फौजों के हाथों हुए कल्ले आम ने मीरजाही कल्ले आम को भी इस तरह फीका कर दिया था कि विद्रोह के शौर्य ने दम तोड़ दिए थे, पर लखनऊ के मोर्चे पर मार्च, 1858 तक खांडा बजता रहा और झांसी की रानी की तलवार तो जून, 1858 तक चमचमाती रही।

आइये, लखनऊ के मोर्चे की एक झांकी देखें। नवाब वाजिदअली शाह कलकत्ते में नजरबन्द थे, उनकी गद्दी का उत्तराधिकारी बिरजीस कदर नाबालिग था और हुकूमत का पूरा प्रबन्ध बेगम हजरत महल के हाथों में था। बेगम की हुकूमत सुप्रबन्ध का एक उत्तम नमूना थी। सब जगह शान्ति थी। विद्रोह का संगठन भी कमाल दर्जे का किया गया था। 'भारत में अंग्रेजी राज' में कहा गया है—“वास्तव में क्रान्ति की इतनी अच्छी तैयारी वहाँ भी न थी, जितनी अवध में। हजारों मीलकी और हजारों पण्डित एक-एक बैरक और एक, एक गांव में स्वाधीनता युद्ध के लिए लोगों को तैयार करते फिरते थे।” हम आगे देखेंगे कि अवध का विद्रोह पूरी तरह राष्ट्रीय जन-विद्रोह था।

30-31 मई, 1857 के दो दिनों में ही यह स्थिति हो गयी थी कि लखनऊ में किसी अंग्रेज को दीखना असम्भव था। जो कहीं दिखाई दिया, काट डाला गया। सभी हिन्दुस्तानी पलटने अंग्रेजों का साथ छोड़कर विद्रोह में शामिल हो गयी थीं। अब अंग्रेज अपने मजबूत भवन रेजीडेंसी में पहुँच गए थे। सिर्फ सिक्खों की दो पलटनें अब भी उनके साथ थीं, पर वे रेजीडेंसी से बाहर झांकने की भी हिम्मत नहीं रखते थे।

यह है, 20 जुलाई, 1857, रेजीडेंसी को विद्रोही सेना ने घेर लिया। घड़ाम, एक गोली चली और रेजीडेंसी पर शान से फहराता यूनिजन जंक टूट कर गिर पड़ा। कई बार झण्डा लगा और टूटा। अवध का चीफ कमिश्नर सर हेनरी लारेंस गोली का शिकार हुआ। जेजर बैंक्स ने उसकी जगह ली, पर शीघ्र ही वह भी निशाने पर चढ़ गया। गोली की मार से रेजीडेंसी की दीवार कई-कई जगह टूट गई और भीतर के भवनों को भी नुकसान पहुँचा। अंग्रेज घबराये और उन्होंने कानपुर के जनरल हैबलाक से मदद माँगी।

29 जुलाई, 1857 को हैबलाक ने लखनऊ जाने के लिए अपनी सेना के साथ गंगा पार की। यह है कानपुर और वह है लखनऊ। कोई 40 मील का फासला, यानी दो दिन का सफर हैबलाक के लिए नागफाँस हो गया। ऐसा कोई गाँव न था, जहाँ हरा झण्डा न फहरा रहा हो और जहाँ का हर निवासी अंग्रेजों के लिए जलता अंगारा न हो। कोई कदम नहीं जिस पर प्रतिरोध न हो, जान-जान की बाजी न हो—हर नागरिक थोड़ा, हर नागरिक विद्रोही। उन्नाव और बशीरतगंज का जनयुद्ध तो युद्धों की कहानी में एक नक्षत्र ही हो गया। जनरल हैबलाक के कदम आगे बढ़ते और जनता का प्रकोप उसे पीछे ढकेल मारता। लगभग दो महीने तक यह गंगा के आरपार होता रहा और इस तरह लखनऊ 1857 के विद्रोह का निर्णायक क्षेत्र बन गया।



कलकत्ता से नई सेना बुलाई गई और वह लखनऊ की ओर बढ़ी। ढाई हजार अंग्रेज और सिक्खों की सेना। पिछली बार हैबलाक के आधे सिपाही कट गए थे। इस बार भी रास्ते के ग्रामवासियों ने एक-एक कदम पर टक्कर ली। यह युद्ध जनसंश्राम था। पिछली बार जमींदारों के पास जो सौ-सौ, दो-दो सौ प्रशिक्षित सैनिक थे, वे हैबलाक के लौट जाने के बाद बेगम हजरत महल के आदेश पर लखनऊ भेज दिए गए थे। एक तरफ शिक्षित, शस्त्र सन्नद्ध सेना और दूसरी तरफ ग्रामवासी। फिर भी मरते-मरते हरेक ने दुश्मनों को मारा। रास्ता दोनों तरफ लाशों से पट गया और नदियों का पानी लाल हो गया। हरे झण्डे वाला हर गांव फूंक दिया गया और हर सामने आने वाला हिन्दुस्तानी मार डाला गया। आजादी के दीवानों ने जमकर आजादी की कीमत अदा की।

यह अंग्रेजी सत्ता के ही नहीं, अंग्रेज जाति के जीवन-मरण का क्षण था। वे 'अब या फिर कभी नहीं' की स्थिति में थे। 23-सितम्बर, 1857 को अंग्रेज सेना लखनऊ के द्वार आलमबाग पहुंची। एक घमासान युद्ध, जिसमें दोनों पक्षों को यह भी बोध नहीं हुआ कि कब दिन चढ़ा, कब दिन ढला, कब रात आई, कब रात गई—बस खून ही खून, खून ही खून। दिल्ली से अंग्रेजों की विजय का समाचार आया, तो अंग्रेजी सेना के हाँसने बढ़ गए।

25 सितम्बर, 1857 को फिर भयानक युद्ध, चारबाग का पुल निर्णायक बिन्दु। विद्रोही सेना उधर, अंग्रेजी सेना इधर। खड़े-जीते आदमी का एक मुर्दा लाश बनकर गिर पड़ना, आँधी में एक आम गिरने से भी कम महत्वपूर्ण। अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों की लाशों पर से अंग्रेज पुल पार हो गए, पर शाबाश हिन्दुस्तानी सिपाही कि पुल पार भी इन्च-इन्च पर घमासान संघर्ष। यह आई सनसनाती गोली और वह गिरा नीम की निमोली-सा अत्याचारी नील; अंग्रेजी सेना के लिए एक दिलतोड़ सदमा, पर शाबाश अंग्रेज सिपाही कि पूरा ध्यान रेजीडेंसी पर, और लो, अंग्रेजी सेना पहुंच गयी रेजीडेंसी के भीतर।

रेजीडेंसी, सतासी दिनों से खूंखार और जांबाज विद्रोहियों के घेरे में घिरी, और इन्हीं दिनों में बनी नई सात सौ कन्नौ की कछुा कन्नगाह और 500 अंग्रेज एवं 400 हिन्दुस्तानियों के घबराये दिल्-दिमागों की जेल की रक्षा प्राचीर रेजीडेंसी। लार्ड कैनिंग ने सर जेम्स ऊटरम के नाम एक पत्र में लिखा है कि जो राजा-ताल्लुकेदार अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में भाग ले रहे थे, उनमें अनेक ऐसे थे, जिन्हें स्वयं अंग्रेजी राज से बर्जीय हानि के लाभ हुआ था, फिर भी ये लोग अंग्रेजी राज के इस समय विकट शत्रु थे और नवाब बिरजीस कदर और बेगम हजरत महल के लिए अपने सर्वस्व की आहुति देने को उद्यत थे।

क्यों ? क्योंकि—“अंग्रेजी सरकार का अस्तित्व ही उन्हें सदा याद दिलाता रहता था कि हम एक पराजित कीम के आदमी हैं।”

इस युद्ध में बेगम हजरत महल ने नेतृत्व और व्यवस्था ही नहीं की, वह स्वयं शस्त्र धारण कर और घोड़े पर सवार हो आमने-सामने युद्ध में लड़ी थी। इस तरह लखनऊ 1857



के स्वाधीनता-संग्राम का प्रतीक हो गया, पर 1857 के स्वाधीनता संग्राम में उत्तर प्रदेश की कोई भी चर्चा अपूर्ण है, जब तक झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के शौर्य, नेतृत्व और बलिदान की गाथा न गाई जाये। रानी लक्ष्मीबाई के नाबालिग पुत्र दामोदर को अंग्रेज राजा मानने से इन्कार कर चुके। 1854 से ही झाँसी अंग्रेजों की सेना के कब्जे में है, किले पर उन्हीं का झण्डा फहराता है और रानी अपने महल में रहती है, बिना किसी सत्ता और अधिकार के।

लक्ष्मीबाई एक औरत है, कुल 21 साल की, वह कर ही क्या सकती है? कुछ नहीं, अंग्रेज एकदम निश्चित हैं, यह भूले हुए कि विजली, आग और तलवार भी स्त्रीलिंग ही हैं, विजली गिरती है तो ऊँचा महल खण्डहर हो जाता है, आग की एक चिन्मारी भरे-पूरे जंगल को फूक देती है और तलवार की एक ही लपक बड़े-से बड़े वीर को लाश के टुकड़ों में बदल देती है।

यह है, 4 जून, 1857, विजली गिरी, आग भड़की और तलवार लपकी कि हवलदार गुरु बक्ष सिंह ने एक झपाटे में मैगजीन और खजाने पर कब्जा कर लिया। अंग्रेज भौचक, पर यह क्या? रानी लक्ष्मीबाई महल से बाहर, शस्त्रों से सज्जित, घोड़े पर सवार और विद्रोही सेना की कमान संभाले; अंग्रेज स्तब्ध; 7 जून, 1857 को किले पर आक्रमण, किले के भीतर की सेना विद्रोहियों के साथ, अंग्रेजी झण्डे का पतन, हरे झण्डे की फहरान और झाँसी 8 जून को फिर से स्वतन्त्र।

20 मार्च, 1858, स्वतन्त्रता और सुव्यवस्था के नौ महीने और तेरह दिनों के बाद, सर ह्यूरोज की विशाल अंग्रेजी सेना झाँसी के द्वार आ पहुँची, पर धन्य रानी की सूझ कि झाँसी के चारों तरफ का इलाका योजनापूर्वक वीरान, न छाया के लिए कहीं एक पेड़, न किसी खेत में अनाज का एक दाना, न घास का एक तिनका; एक विशाल वीरान। जीवन का कैसा आश्चर्य कि आबादी की रक्षा के लिए बर्बादी की प्राचीर। सूझ अनुपम, कि अंग्रेजी फौज का टिकना ही असम्भव, पर देश का दुर्भाग्य कि घर में ही घर के भेदिया सन्नद्ध। महाराज सिंधिया और टीकमगढ़ के राजाओं ने अंग्रेजी सेनाओं के लिए भोजन सामग्री और उनके पशुओं के लिए चारे का ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि उन्हें कोई असुविधा न हो।

बाँया हाथ दाहिने हाथ को खा रहा था, फिर भी रानी रात-दिन काम में जुटी थी, उसका उत्साह इतना प्रचण्ड था कि सैकड़ों दूसरी स्त्रियाँ भी रात-दिन काम कर रही थीं। रानी ने अंग्रेजी फौज को पहल करने का मौका नहीं दिया और 24 मार्च, 1858 को उसकी घनगर्ज नाम की तोप सुबह ही सुबह गरज उठी। बस फिर क्या था, दोनों तरफ से गोलों की बरसात शुरू हो गयी। 26 मार्च को अंग्रेजों ने नगर के दक्षिणी फाटक पर ऐसी गोलन्दाजी की कि झाँसी की तोपों का मुंह बन्द हो गया, पर लक्ष्मीबाई का मुंह तो खुला ही था। उसने आदेश दिया कि पश्चिमी फाटक की तोप का मुंह दक्षिणी फाटक की तरफ किया जाये। एक, दो, तीन, अंग्रेजी सेना का सर्वोत्तम तोपची तीसरे ही भोले पर बोटी-बोटी होकर उड़ गया और अंग्रेजों की तोप ठण्डी हो गई। रानी क्षपट कर अपने तोपची गुलाम गौस खाँ के पास



पहुंची और उसे स्वयं सोने का कड़ा पहना दिया। उल्हाह उफन पड़ा, अंग्रेजी तोपों पर कालरात्रि छा गई।

अंग्रेज सेनापति ह्यूरोज ने नये निर्देश दिए, उनका मोर्चा फिर जमा, ऐसा जमा कि झांसी की सेना हताश होने लगी। सातवां दिन था यह युद्ध का कि नगर की बायीं दीवार का एक हिस्सा गोले से चोट खा कर गिर पड़ा। किसी का भी वहाँ खड़ा होना असम्भव, पर जो असम्भव को सम्भव नहीं बना सकता, वह युद्ध का नेतृत्व क्या करेगा? कम्बलों से अपने को ढके कई मिस्त्री रात भर मरम्मत में जुटे रहे। दूसरे दिन सूरज की पहली किरण जब दीवार पर पड़ी, तो वह ठीक थी और उस पर रखी तोप गोले बरसा रही थी।

आठवें दिन अंग्रेजी सेना ने नया मोर्चा लिया। उनके पास अच्छी दूरबीनें थीं, देख-देख कर उन्होंने पानी के स्रोत पर गोले बरसाने आरम्भ किए। जो पानी लेने को बढ़ा, मरा। चार घंटे तक पानी की एक बूंद नहीं मिली। रानी ने नये निर्देश दिए। पश्चिम और दक्षिण तरफ के तोपची एक साथ अंग्रेजी सेना पर बरस पड़े, तो पानी मुक्त हुआ। यह भयंकर दिन था रानी के लिए, पर रानी के नेतृत्व का चमत्कारी दिन भी था। वह अकेली ही सब मोर्चों पर थी, हर चीज पर उसकी निगाह थी, हर जगह उसका आदेश सुलभ था।

यह आ पहुँचा, महा सेनापति तात्या टोपे अपनी सेना लेकर झांसी की मदद को। अंग्रेजी सेना दो पाटों के बीच—इस ओर रानी तो उस ओर तात्या; मौत के मुँह में जाकर कोन बचा है, पर ह्यूरोज को बधाई कि निराशा के अंधेरे में वह विश्वास का दीपक लेकर बढ़ा और पहली अप्रैल, 1858 को उलट कर तात्या पर दूट पड़ा। जाने क्या हुआ कि तात्या की फौजों ने कायरता दिखाई और मोर्चा अंग्रेजी सेना के हाथ रहा। झांसी की स्थिति अब निराशाजनक, पर रानी अब भी मुस्तैद। तीन अप्रैल को झांसी पर चारों ओर से चढ़ाई, पर रानी घोड़े पर सवार और आदेशों एवं उपहारों की बौछार, यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ, इसे यह भेंट, उसे वह इनाम।

बड़े दरवाजे के तरफ अंग्रेजों ने दीवार पर आठ सीढ़ियाँ लगाई कि चढ़कर भीतर जा पहुँचे। डिक और मिचन जान सीढ़ियों पर चढ़ गये और ललकारा उन्होंने अपने साथियों को, पर धड़ाम, धड़ाम, दो गोलियाँ इधर से छूटीं कि दोनों वहीं ढेर हो गये। शाबाश निशाना; उन्हीं सीढ़ियों पर चढ़े, बोनस और फाक्स कि कूदें भीतर, पर कूदते हैं जीते जागते लोग, झांसी की दो गोलियों ने उन्हें बिना रस्ते के ही फांसी लगा दी कि गिरे धड़ाम। पलक मारते आठों सीढ़ियाँ टूट कर ईधन हो गयीं। वे क्या टूटीं, अंग्रेज ही टूट गए, पर अपने देश का भाग्य तो हमेशा ही अपनी से फूटा है। विश्वासघात, घोर विश्वासघात, किसी झांसी वाले से ही भेद और सहयोग पाकर अंग्रेजी सेना दक्षिणी द्वार से नगर में घुस आई।

बांध टूट जाये, तो बाढ़ को कीन रोक सकता है? नहीं रोक सकता, पर वज्रवक्ष रानी अपने एक हजार सिपाहियों के साथ लपक कर अंग्रेजी सेना के सामने आ गई। बन्दूकें



वन्द, तलवारों की लहक, जैसे बिजली की झमक, इतिहास में साहस का अद्भुत अध्याय। अंग्रेजी सेना हतप्रभ पीछे हटी कि तभी आई यह प्रलयकारी खबर—कि मुख्य द्वार का रक्षक खुदा बक्श और तोपखाने का अफसर गुलाम गीस खां शहीद हो गए।

रानी का मन निराशा की आँधियों से घिर गया—लगा दूंगी अब अपने ही हाथ से किले के शस्त्रागार में आग और उसी में दे दूंगी अपनी देह की आहुती; तभी ललकारा उसके आत्मविश्वास ने—गई झाँसी, पर युद्ध झाँसी के लिए नहीं, देश की स्वतन्त्रता के लिए हो रहा है; मैं किसी दूसरे मोर्चे पर लड़ूंगी अब।

मरदाना वेश, हथियारों से सज्जित देह, कमर पर चादर से बँधा दत्तक पुत्र, रानी किले की दीवार से नीचे खड़े हाथी की कमर पर कूदी और नीचे खड़े अपने प्रिय सफेद घोड़े की पीठ पर आ गई ७ दस-पन्द्रह सैनिक साथ में, लगातार सघी हुई और कालपी की तरफ सरपट, लँफटीनेन्ट बोकर और उसके कुछ सिपाही रानी के पीछे। रात भर यही दौड़मदौड़ सुबह एक गाँव में जरा रुककर रानी ने अपने बेटे को दूध पिलाया और फिर सरपट, पर इंतनी ही देर में बोकर का घोड़ा रानी के पास। रानी की तलवार म्यान से बाहर और पहली ही झपक में घायल बोकर घोड़े से नीचे, धम।

फिर दौड़मदौड़। कितनी अद्भुत स्फूर्ति कि पूरे सप्ताह झाँसी की लड़ाई में रात दिन एक फिर पूरी रात घोड़े पर और तब भी तलवार का यह पैनापत। इस तरह एक सी दो मील का सफर और तब आधी रात गए कालपी में प्रवेश। रानी घोड़े से उतरी कि घोड़ा गिरा, पलभर में प्राणान्त।

कालपी में शक्ति की कमी नहीं—शत्रु से अधिक शक्ति, पर संकीर्णता का वही रोग, जो दिल्ली में सेनापति वक्त खाँ के विरुद्ध उमड़ कर विजय के लिए विष हो गया था—इस शक्ति का कर्णधार कौन हो? रानी सर्वथा उपयुक्त, पर खानदानी राजा 22 वर्ष की एक स्त्री के नेतृत्व में काम करें, यह असम्भव है। अच्छा, तात्या टोपे सर्वथा समर्थ, उसे सब कर्णधार मानें, पर तात्या तो राजकुल का नहीं, एक साधारण कुल में जन्मा मनुष्य है। खानदानी नरेश उसके मातहत कैसे रह सकते हैं। इन्हीं मतभेदों के कारण रानी को पूरा सहयोग नहीं मिला। कालपी में एक मोर्चा लड़ने के बाद रानी ने ग्वालियर जीत लिया और सिधिया को वहाँ से भागना पड़ा। पेशवा का नया राज्याभिषेक हुआ, इनाम बँटे, दावतें हुई, रास-रंग जमे। रानी ने समझाया कि अब सेना के संगठन में सब लगे, पर कौन सुनता उनकी?

इधर दावतों में समय गया, उधर सेनापति ह्यूरोज सिधिया को साथ लेकर आ गया। घमासान संश्राम, पर मोर्चा रानी के हाथ रहा। यह है 18 जून, 1858, जनरल स्मिथ बहुत अधिक सेना के साथ रानी के द्वार पर। भयंकर युद्ध, पर तभी दूसरी तरफ से ह्यूरोज का घावा, रानी मौत के घेराब में, रानी के पास उसकी दो सहेलियाँ और 10-15 सवार। रानी अपनी सेना को खीरती हुई आगे बढ़ी। यह आई एक गोली, सहेली मन्दरा



शहीद, पर मुड़कर रानी की तलवार का एक बार और गोली दागने वाला अंग्रेज धो टुकड़े। सामने ही नाला और घोड़ा कमजोर, नाला फलांगने में असमर्थ, रानी अकेली, अंग्रेज सवार आस-पास, पर रानी की तलवार चालू। तभी पीछे से रानी के सिर पर तलवार का एक बार, दाहिनी तरफ का सिर कटकर अलग दाहिनी आँख पुतली के बाहर, पर विश्व की वीरता के इतिहास का चमत्कारी दृश्य कि रानी घोड़े पर स्थिर और तलवार के बार जारी। तभी रानी की छाती पर एक गहरा बार, छाती और सिर से खून का फव्वारा, पर तलवार का अन्तिम लेकिन सधा हुआ बार और छाती पर बार करने वाला अंग्रेज सवार कटकर समाप्त। रानी की भी पूर्णाहुति।

कुछ हमारी राष्ट्रीय खूबियाँ हैं, जिनके कारण हम इतना बड़ा विद्रोह खड़ा कर सके और कुछ हमारी राष्ट्रीय खामियाँ हैं कि काफी शक्ति होते हुए भी हम स्वतन्त्रता का संग्राम हार गए। हारे हुए शत्रु को विजेता मानसिक रूप से भी इस हद तक परास्त और हताश कर देना चाहता है कि वह दुबारा विरोध करने की हिम्मत ही न कर सके।

अंग्रेजों ने भी यही किया। उत्तर प्रदेश में सहारनपुर से गोरखपुर तक स्वतन्त्रता की रजत जयन्ती के वर्ष में भी ऐसे पचासों वृक्ष हैं, जिन पर खुले आम लोगों को फाँसियाँ दी गयीं थीं और ऐसे चौराहे भी पचासों हैं जहाँ निर्दोष नागरिकों को खुलेआम नंगा करके कोड़ों से पीटा गया था। कितने गाँव जलाये गए, इसको गिनती असम्भव, कितनों की जायदादें जब्त हुई, कोई नहीं जानता और जिन्हें गोलियों से भून दिया गया, उनकी गिनती भी कोई नहीं कर सकता। संक्षेप में अंग्रेजों ने स्वतन्त्रता प्रेमी भारतीयों पर वे सब अत्याचार किए, जिनसे किसी कौन के पास सिवाय साँसों के और कुछ नहीं बचता।

इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया ने 1 नवम्बर, 1858 को हिन्दुस्तान की हुकूमत को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से इंग्लैंड की सरकार के हाथों में लेने की घोषणा की—“हमें हिन्दुस्तान के साथ दिली हमदर्दी है, उन मुसीबतों में, जो कि उन महत्वाकांक्षी लोगों के कारनामों से नाज़िल हुई है, जिन्होंने कि अपने देशवासियों को धोखा देकर और उनमें झूठी खबरें फैलाकर उन्हें खुली बगावत के लिए उभार दिया। जंगे मैदान में उस बगावत को कुचल देने से हमारी ताकत का इजहार हो चुका है। अब उन लोगों के अपराध क्षमा करके, जो कि अब अपने कर्तव्य के पालन पर लौटना पसन्द करें, हम अपनी मेहरबानी का इजहार करना चाहते हैं।”

“कई जरूरी कारणों से हमने यह निश्चय किया है और इस बारे में हमने लाइंस और पार्लियामेंट के साधारण सदस्यों का परामर्श भी ले लिया है कि हम हिन्दुस्तान के उन इलाकों की हुकूमत अपने हाथों में संभाल लें, जिन पर कि अभी तक माननीय ईस्ट इण्डिया कम्पनी हमारी ओर से बतौर ट्रस्ट के राज्य करती थी।”

लाई केनिंग को भारत का पहला वायसराय बनाया गया। संयोग देखिए कि उन्होंने



विक्टोरिया की यह घोषणा 1 नवम्बर, 1858 को इलाहाबाद में पढ़कर सुनाई। यह संयोग कहता है कि भारत की स्वतन्त्रता के लिए सबसे उग्र संघर्ष उत्तर प्रदेश ने किया; तो भारत की पूर्ण गुलामी की घोषणा भी उत्तर प्रदेश में ही की गयी। बिना कहे ही इसका अर्थ होता है कि भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाने के संघर्ष की मुख्य जिम्मेदारी भी इतिहास ने उत्तर प्रदेश को ही सौंपी।

\* \* \*

### 3 : 'हम गिरे, गिरकर उठे, उठकर चले'

1857 के विद्रोह के बाद हिन्दुस्तान की आत्मा को भयानक दमन के द्वारा कुचला गया, शस्त्रहीन बनाकर आत्महीन किया गया और अनेक मनोवैज्ञानिक उपायों से पूरी तरह जकड़ दिया गया। संक्षेप में, स्थित ऐसी बना दी गयी कि हिन्दुस्तानी लोग यह समझे ही नहीं, मान भी लें कि अब वे गुलाम हैं और उन्हें हमेशा गुलाम ही रहना है। 1857 के विद्रोह का संगठन करने में हिन्दुस्तानियों ने जिस गोपनीयता का परिचय दिया था और विद्रोह में जिस क्रूरता और वीरता से अंग्रेजों को मसला था, उससे अंग्रेजों के मन में भय और आशंका के ऐसे बीज बोये गये थे कि हिन्दुस्तान की आत्मा को पूरी तरह कुचलकर भी वे निश्चिन्त नहीं हो सके।

उन्होंने एक गुप्तचर विभाग बनाया और इस विभाग को हिन्दुस्तान की जनता का मन टटोलने का काम सौंपा। सुनकर आश्चर्य होता है कि लगभग तीन हजार आदमियों से चुपचाप पूछताछ की गई। इस पूछताछ से जो रिपोर्ट तैयार हुई, वह मोटी-मोटी सात जिल्दों में आई। सार उसका यह था कि हिन्दुस्तान के आम लोग यह सोच रहे हैं कि हमें इसी समय अंग्रेजों के खिलाफ 'कुछ' करना चाहिए, वरना ये सारे देश को भूखों मार डालेंगे। इस 'कुछ' का तात्पर्य हिंसात्मक गदर ही था और इस भावना का एक मुख्य कारण अकाल थे।

अंग्रेजी सरकार ने सोचा कि एक ऐसा मंच होना चाहिये, जहाँ देश के बौद्धिक लोग अपनी बात खुलेआम कह सकें और भीतर की घुटन से, जो गुप्त पड़यन्तों को जन्म देती है, बचें। इस मंच के निर्माण का काम ओ० ह्यूम को दिया गया, जो पुराने आई०सी०एस० अफसर थे, पर जिन्होंने सदा हिन्दुस्तानी जनता को उठाने, जगाने के प्रयत्न किये थे और इसके लिए सरकार की चेतावनियाँ श्रेणी थीं। 1885 में कांग्रेस की स्थापना बम्बई में हुई। राजभक्ति उसका जीवन-धर्म था, प्रार्थना और निवेदन उसका जीवन-कर्म और अंग्रेजों का यूनिनन जैक ही उसका झण्डा। गवर्नर उसके जलसे में आते और आशीर्वाद देते। संघर्ष की तो कल्पना भी कहीं लाखों कोस न थी। ओ० ह्यूम तो उसे सामाजिक मंच ही बनाना चाहते थे, पर लार्ड डफरिन के कहने से राजनैतिक संगठन का रूप दिया गया था।

अंग्रेजों के लिए कांग्रेस गऊ माता थी, पर उसके पैसे सींग को जहाँ उसने पहली बार मरोड़ने का प्रबन्ध किया, वह स्थान उत्तर प्रदेश की उस समय की राजधानी इलाहाबाद था।



1888 में कांग्रेस का वहाँ चौथा अधिवेशन हुआ, तो सरकार ने उसमें हजार बाधाएँ डालीं। अधिवेशन के लिए उसे स्थान तक नहीं मिला। कहे, सरकार और कांग्रेस के बीच जो संघर्ष बाद में उगा-पगपा, उसका पहला पौधा उत्तर प्रदेश में ही रोपा गया था।

फिर भी अंग्रेजों की न्यायप्रियता में कांग्रेस का विश्वास बना रहा और अंग्रेजी हुकूमत को वह ईश्वर का वरदान मानती रही। कांग्रेस के अधिवेशनों में अंग्रेजों और उनके राज्य के बारे में भय, शिक्षक और आत्मविश्वास की कमी से ग्रस्त नेताओं ने राज्यभक्ति के जो बोल बोले, उनका अब स्वतन्त्र भारत में कोई संकलन करे तो पढ़कर हँसी आये। खुशामदी बोलों के इस अम्बार में एक ही बोल है आत्मगौरव का और वह बोल है उत्तर प्रदेश का। राजा रामपाल सिंह ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में तिलमिला कर कहा था—“ब्रिटिश राज्य के सारे लाभों से बढ़कर वह अस्त्र-शस्त्र कानून हैं, जो हिन्दुस्तानियों को हथियार लेकर चल सकने के अधिकार से वंचित करता है। सैनिकों और वीरों की एक जाति को मनचाही दिशा में हाँकी जाने वाली भेड़ों के दबू समूह में बदल डालने के लिये हम अपने को जरा भी अनु-गृहीत नहीं समझ सकते।” यह जागरण के नवयुग की पहली किरण थी।

20 जुलाई, 1905 को वायसराय लार्ड कर्जन ने बंगाल प्रान्त को दो हिस्सों में बाँट दिया। यह क्रांतिकारी बंगाल को साम्प्रदायिकता में डुबाकर कमजोर करने की प्रक्रिया थी। यह वायसराय लार्ड कर्जन के उद्दण्ड अहंकार का हिन्दुस्तान के उभरते जागरण पर एक करारा आघात था, पर इससे जनजीवन दीन न होकर उठ खड़ा हुआ और उसने अंग्रेजी हुकूमत पर एक तगड़ा प्रत्याघात किया।

पूरे बंगाल में विदेशी वस्तु बहिष्कार और स्वदेशी वस्तु स्वीकार के साथ ही राष्ट्रीय शिक्षा की पुकार ने जोर पकड़ा। जुलूमों और जलसों की ऐसी धूम मची कि बंगाल में जागृति का तूफान ही आ गया। सरकार भी पूरी तरह दमन पर तुल गई। उसने हुक्म दिया कि जो बन्देमातरम् का नारा लगायेगा, उसे चौक में खड़ा करके खुले आम बेंत लगाये जायेंगे। सुशील सेन एक किशोर ही था। उसने यह सुना तो वह स्वयं चौक में जा पहुँचा और पूरे जोर से बन्दे मातरम् का नारा लगाने लगा। चीफ प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट किंग्सफर्ड ने उसे बेंतों से वहीं पिटवाया।

इस घटना से लोग बहुत मर्माहत हुये और कुछ जोशीले लोग तिलक महाराज के पास पहुँचे कि वे किसी मराठा क्रांतिकारी को कलकत्ता भेजें, जो अंग्रेज अधिकांशी बांफोल्ड फुलर को खत्म कर दे। तिलक महाराज ने उत्तर दिया—“एक फुलर मरेंगा तो उसकी जगह आने को दस फुलर खड़े हो जायेंगे। अच्छा तरीका यह है कि कहीं आम सड़क पर उसे जूते मारे जायें, जिससे वह घृणित स्थिति में सबको दिखाई दे।”

इस तूफान के समाचार देश में फैले, पर आन्दोलन की गरमी को देशव्यापी बनाने का श्रेय है विपिन चन्द्र पाल को। वे भाषण कला के आचार्य थे और बोलने खड़े होते तो श्रोताओं पर जादू कर देते थे। उन्होंने देश भर का दौरा किया और बंगाल का दर्द देश-

वासियों के हृदय में बोया। उत्तर प्रदेश ने भी उस दर्द की कसक महसूस की और काश। में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें बंगाल के विभाजन का विरोध करते हुये, उसे रद्द करने की मांग की गई। जैसा वह युग था, उसे देखते हुये यह भी एक गरम कदम ही था। पंचम जार्ज के राज्याभिषेक की आड़ लेकर 1911 में बंगाल का बँटवारा रद्द कर दिया गया, पर इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेजों के न्याय में जिस विश्वास की घोषणा बराबर राजनीतिज्ञ करते थे, वह सारे देश में कम हो गया—उत्तर प्रदेश भी इसका अपवाद न था। बंग-भंग सचमुच देश की प्रगति के इतिहास में जाग कर उठ खड़े होने का पहला कदम सिद्ध हुआ, क्योंकि बाद में जिस अहिंसक आन्दोलन ने देश का भाग्य बदला, उसका पूर्वाभ्यास ही था, बंग-भंग आन्दोलन।

\* \* \*



## 4 : शानदार शामियाने में

- \* राम ने उत्तर और दक्षिण भारत के बीच एकता की क्रान्ति की। उनका जन्म क्षेत्र अयोध्या।
- \* कृष्ण ने पूर्व और पश्चिम भारत के बीच एकता की क्रान्ति की। उनका जीवन क्षेत्र मथुरा।
- \* बुद्ध ने सामाजिक जड़ता के विरुद्ध क्रान्ति की। उनका धर्म-प्रवर्तन-क्षेत्र सारनाथ।
- \* दासता के विरुद्ध 1857 की स्वातन्त्र्य-क्रान्ति। उसका जन्म क्षेत्र बिठूर।
- \* 1857 की पहली आहुति—मंगल पाण्डे। उनका जन्म क्षेत्र बलिया।
- \* 1857 की स्वातन्त्र्य क्रान्ति का पहला विस्फोट क्षेत्र—मेरठ।
- \* गांधी की अहिंसक क्रान्ति का घोषणा क्षेत्र—वाराणसी।
- \* अयोध्या, मथुरा, सारनाथ, बिठूर, बलिया, मेरठ और वाराणसी; यह इतिहास का कौसा सुखद आश्चर्य कि इतने महान परिवर्तनों का विकास क्षेत्र—उत्तर प्रदेश।
- \* 6 फरवरी, 1916, गांधी-क्रान्ति की घोषणा का पुण्य-दिवस।

हिन्दू विश्वविद्यालय का उद्घाटनोत्सव। वायसराय लार्ड हाडिंज उद्घाटनकर्ता और दरभंगा के महाराज सर रामेश्वर सिंह सभापति। देश के राजा-महाराजाओं का पूरा जमघट। एक से एक शानदार व्यक्तित्व और सभी अधिक से अधिक जड़ाऊ जैवरों से लदे हुए। करोड़ों रुपये के हूँरे-मोती, नीलम-पन्नों की प्रदर्शनी का वह महोत्सव, उस काल के सबसे तेजस्वी वक्तृत्व की प्रतीक श्रीमती ऐनीबेसेन्ट भी सुशोभित। शामियाना ऐसा कि देखो, तो देखते ही रह जाओ और सजावट ऐसी कि धरती का स्वर्ण।

तीसरे दिन 6 फरवरी, 1916 को गांधी जी का भाषण रखा गया। सभापति दरभंगा नरेश और प्रमुख वक्ता ऐनीबेसेन्ट। एक साल पहले ही गांधी जी अफ्रीका से लौटे थे। वहाँ के सत्याग्रह की वजह से उन्हें कुछ लोग जानते थे, पर सार्वजनिक जीवन में उनका कोई स्थान न था। उन दिनों वे काठियावाड़ी बंडी, नीचे घोंटी पहनते थे और सिर पर साफा बाँधते थे।



उनसे कहते थे कि उनकी कविता का भावनात्मक भावनात्मक भावना ही था। भावुक भाषण करने वाला ही नेता कहा जाता था। उन्होंने अपनी सम्मोहिनी शैली में हिन्दू विश्वविद्यालय का जो इन्द्रधनुषी चित्र खींचा, तो ऐसा लगा कि हजारों ऋषियों का जन्म हो गया है और उन्होंने सारे संसार में भारत को आध्यात्मिकता का दिग्विजयी डंका बजा दिया है। सभा में चारों ओर रंगीन कल्पना का कोहरा छा गया।

इस भाषण के बाद गांधी जी उठे, तो सभी ने आश्चर्य से उनकी तरफ देखा, जैसे संगीत सम्मेलन में गुरे आरकेस्ट्रा की संगीत-रचना सुनने के बाद मंच पर कोई खड़तालिया आ खड़ा हो, पर गांधी जी ने पहले ही वाक्य से उस इन्द्रधनुषी कोहरे के फूस में दिव्यता लाई लगा दी—“आप लोग एक क्षण के लिए भी इस बात को अपने मन में जगह न दें कि जिस आध्यात्मिकता के लिये इस देश की ख्याति है और जिसमें उसकी कोई उपमा नहीं, उस आध्यात्मिकता का संदेश बातें बघार कर दिया जा सकता है।” और यह भक्क उठा पूरा ही भाषण-युग—“हम भाषण देने की कला के लगभग शिखर पर जा पहुंचे हैं। अब तो हमारे मनों में स्फुरण और हाँथ-पाँव हिलने चाहिए।”

अंग्रेजी में भाषण देने के शौक पर वे बरसे—“पिछले दो दिनों में यहाँ जो भाषण दिये गये, यदि उनमें लोगों की परीक्षा ली जाये और मैं परीक्षक होऊँ, तो निश्चित है कि ज्यादा लोग फेल हो जावें; क्योंकि इन व्याख्यातों ने श्रोताओं के हृदय नहीं छुये।”

जनता को ही स्वराज्य की कुंजी होने का गौरव उन्होंने दिया और तुरन्त उसे झंझोड़ा—“शहरों में लोग गलियों में चलते पर ऊपर से पान थूकते हैं, कूड़ा फेंकते हैं और रेल के डिब्बों को गन्दा करते हैं, ज्यादा जगह घेरते हैं।” विश्वनाथ के मन्दिर की गन्दगी पर उन्होंने शोध प्रकट किया और तब से जड़ाऊँ गहनों में सजे और अपने को ईश्वर का अंश मानने वाले राजाओं पर बाज की तरह टूट पड़े—“जब मैं गहनों से लदे इन अमीर उमरावों को भारत के लाखों गरीब आदमियों से मिलाता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि मैं इन अमीरों से कहूँ—जब तक आप अपने जेबरात नहीं उतारते और इन्हें गरीबों की धरोहर मानकर नहीं चलते, तब तक भारत का कल्याण नहीं।”

उन्होंने उनके मर्म को मसला—“मुझे यकीन है कि सम्राट या लार्ड हार्डिज वास्तविक राजभक्ति दिखाने के लिए किसी का गहनों के सन्दूक उलट कर सिर से पाँव तक सजकर आना जरूरी नहीं समझते। आप चाहें, तो मैं जान की बाजी लगाकर सम्राट पंचम जार्ज का संदेश आपको ला दूँ।” राजाओं के ईश्वर वायसराय को भी उन्होंने नहीं बखशा और कहा कि “पुलिस के पहरे में जुलूस निकलवाने का मरणान्तक दुःख भोगने से उनका मर जाना अच्छा है।”

ऐसी सच्ची और साफ बातें उन बेचारों ने कब सुनी थी। वे तो परेशान हो गये और उन्हें लगा कि उनके जेवर काले पड़ गये हैं। ऐनीबेसेंट तो इतनी परेशान हुई कि भाषण



Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri  
खत्म करने की कह बंटी, पर वे अध्यक्ष तो न थे, गांधी जी ने अध्यक्ष की तरफ देखा। अध्यक्ष ने कहा—संघेप में कहिये, तो गांधी जी ने कहा—“यदि किसी दिन हमें स्वराज्य मिलेगा, तो अपने पुरुषार्थ से मिलेगा, अंग्रेजों के दान से नहीं।”

मंत्र पर कानाफूसी तो हो ही रही थी, अब खलबली मच गई और श्रीमती ऐनीबेसेंट उठकर चली तो राजाओं से कहती गयीं—“अब आपका बैठना ठीक नहीं।” अध्यक्ष महाराजा उठकर चले तो दूसरे भी खिसके। गांधी जी का भाषण अधूरा रह गया, पर वह अधूरा भाषण ही तो आगे चलकर गांधी-क्रान्ति की घोषणा सिद्ध हुआ। उत्तर प्रदेश की भूमि को इस घोषणा का पुष्प देकर गांधी जी ने उत्तर प्रदेश का वह ऋण उतार दिया, जो 8 अप्रैल, 1915 को हरद्वार तीर्थ (गुरुकुल कांगड़ी) में स्वामी श्रद्धानन्द ने उनके लिये यह भविष्यवाणी कर चढ़ाया था—“मुझे आशा है कि श्री गांधी भारत के लिये ज्योति-स्तम्भ बन जायेंगे”। क्या यह कहना उचित न होगा कि गांधी जी को राष्ट्र-पुरुष के रूप में सबसे पहले उत्तर प्रदेश ने ही पहचाना था ?

## 5 : अपने घर के हम खुद हाकिम

हमारे राष्ट्रीय इतिहास का यह एक अद्भुत दृश्य था। हाँ, अद्भुत दृश्य, अनुपम दृश्य, क्योंकि ऐसा दृश्य हमारे इतिहास ने इससे पहले कभी देखा न था। सचमुच यह एक नये युग का आरम्भ था। इस महान दृश्य को उपस्थित करने का सौभाग्य हमारे लखनऊ को प्राप्त हुआ था।

यह दृश्य था एक ही मंच पर महात्मा तिलक और खापड़ें, रास बिहारी घोष और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, राजा सहस्रदावाद, मो० मजहरुल हक और मुहम्मद अली जिन्ना, गांधी जी और पोलक का एक साथ बैठना। यह दृश्य इस बात से और भी मनोरम हो गया था कि इन्हीं सबके बीच श्रीमती एनीबेसेंट अपने दो सहयोगी अरंडेल और वाडिया के साथ बैठी थीं और इन तीनों के हाथ में होमरूल के झण्डे थे।

यह 1916 की लखनऊ कांग्रेस का मंच था। इस मंच की एक अपनी कहानी है।

हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज्य को ईश्वर का दिया वरदान मानकर उसकी छत्रछाया में नागरिकता की कुछ साधारण सुविधाओं की भिक्षा माँगने वाले कांग्रेस के नरमदली नेताओं और स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानने वाले महात्मा तिलक एवं उनके साथियों की खुली टक्कर सूरत-कांग्रेस में हो चुकी थी। खूब कुसियां चली थीं और एक जूता भी फेंका गया था। इस टक्कर ने तिलक के गरमदल को कांग्रेस से दूर कर दिया था और कांग्रेस पूरी तरह नरमदल के हाथों में चली गयी थी। यह 1907 की बात है। 1908 में तिलक राजद्रोह के नाम पर छह साल के लिये जेल भेज दिये गये थे।

1857 का विद्रोह हिन्दू मुसलमानों ने मिलकर किया था। विद्रोह की असफलता के बाव अंग्रेजों ने हिन्दुओं को गले लगाने और मुसलमानों को हतप्रभ (डिमाँरालाइज) करने की नीति अपनाई, पर बाद में हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाकर मुसलमानों को गले लगाने की नीति अपना ली। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्थापक सैयद अहमद को अंग्रेजों ने अपना यन्त्रपुष्प बनाया। इस तरह वे निश्चिन्ता हो गए, पर 1913 में मुस्लिम लीग ने भी



Digitized by Arva Samaj Foundation Chennai and eGangotri.  
 १. कांग्रेस की तरह "ब्रिटिश साम्राज्य को छाया में स्वशासन" का अपना ध्येय घोषित कर दिया और अपने प्रस्ताव में यह भी कहा कि "देश का राजनैतिक भविष्य दो महान जातियों (हिन्दू, मुसलमानों) के मेल, सहयोग और एक साथ काम करने पर निर्भर है।" कांग्रेस ने अपने अधिवेशन में इस प्रस्ताव की प्रशंसा की।

जून, 1914 में तिलक जेल से छूटे। नरमदली नेता गोखले ने कहा कि तिलक का कांग्रेस में आना पुराने झगड़े के लिए एक सिगनल का कार्य होगा। तिलक अपने गरमदल को संगठित करने में लग गए और उन्होंने 23 अप्रैल, 1916 को होमरूल लीग की स्थापना की। इसके कुछ महीने बाद श्रीमती एनीबेसेंट ने भी होमरूल लीग की स्थापना की। इसी बीच नरमदली नेता गोखले और फिरोज शाह मेहता की मृत्यु हो चुकी थी। गांधी जी इन्हीं दिनों अफ्रीका से लौटे थे और देश की स्थिति का अध्ययन कर रहे थे। कांग्रेस में उनका कोई स्थान न था, यहां तक कि 1915 की कांग्रेस में विषय समिति के सदस्य भी न चुने जा सके और उन्हें सभापति ने नम्रजद किया।

इस प्रकार लखनऊ कांग्रेस नरम गरम दल, हिन्दू मुसलमान, तिलक, एनीबेसेंट और गांधी जी का पवित्र संगम हो गई और नये युग की गंगोत्री बनने का सौभाग्य उत्तर प्रदेश को ही प्राप्त हुआ।

इस कांग्रेस से अंग्रेज सरकार डरी हुई थी। उसके मंत्रिमण्डल ने कांग्रेस की स्वागत-समिति को चेतावनी दी थी कि भाषणों में राजद्रोह के भावों को न आने दिया जाये। बंगाल सरकार ने लखनऊ कांग्रेस के मनोनीत सभापति के पास भी यह चेतावनी भेजी थी। श्रीमती एनीबेसेंट को बरार और बम्बई की सरकारों ने निर्वासित कर दिया था। इसलिये लखनऊ कांग्रेस में आशंका का वातावरण था। इस आशंका का कारण यह भी था कि 1885 में कांग्रेस की स्थापना में अंग्रेजी सरकार की सहमति ही नहीं, प्रेरणा भी थी, पर 1888 में जब इलाहाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन होने की बात थी, तो लैफ्टीनैन्ट गर्वनर ने उसके लिये स्थान देने से इन्कार कर दिया था और रुकावटें डाली थीं। इस प्रकार कांग्रेस और अंग्रेजी सरकार में विरोध का आरम्भ करने का सौभाग्य भी उत्तर प्रदेश को ही प्राप्त था, पर लैफ्टीनैन्ट गर्वनर सर जेम्स मेस्टन की बुद्धिमानी से लखनऊ कांग्रेस में कोई झंझट नहीं हुआ और वे अपनी धर्मपत्नी के साथ अधिवेशन में आये। लखनऊ कांग्रेस में बिहार के किसानों पर गिरे जमींदारों के अत्याचारों की जांच का प्रस्ताव पास होना महत्वपूर्ण था, क्योंकि इसी प्रस्ताव ने पहली बार कांग्रेस को किसानों से जोड़ा। इसके साथ देशभर की कांग्रेस कमेटियों को प्रचार करने का आदेश देने के प्रस्ताव ने कांग्रेस को वार्षिक अधिवेशन के तमाशे से आगे बढ़ाकर एक आन्दोलन का रूप दे दिया। इस प्रस्ताव का फल आश्चर्यजनक हुआ और प्रचार कार्य में प्रान्तों ने खूब होड़ लगाई।

1917 के एनीबेसेंट द्वारा संचालित होमरूल आन्दोलन का भवन इसी प्रचार की आधार शिला पर स्थापित हुआ था और इस प्रकार होमरूल आन्दोलन को आरम्भ करने के श्रेय का एक बड़ा अंश उत्तर प्रदेश को दिया जा सकता है, पर-इस बात की चर्चा हमारे यहाँ



किशोर जवाहर लाल नेहरू के एक अध्यापक थे ब्रक्स । वे श्रीमती एनीबेसेंट की थियोसोफिकल सोसाइटी से प्रभावित थे । जवाहरलाल भी उनके कारण थियोसोफिकल सोसाइटी के मेम्बर 13 वर्ष की उम्र में बन गए थे और स्वयं श्रीमती एनीबेसेंट ने अपने हाथों से उन्हें दीक्षा दी थी । थियोसोफी का प्रभाव तो थोड़े दिन बाद समाप्त हो गया था, पर एनीबेसेंट में उनका आदर था । इसलिए एनीबेसेंट ने जब होमरूल आन्दोलन चलाया, तो जवाहर लाल नेहरू ने भी होमरूल लीग का मेम्बर बनने की जिद की, पर पंडित मोती लाल नेहरू बावजूद अपने दबंगपन के तब तक नरमदली राजनीतिज्ञ ही थे, इसलिए उन्होंने बार-बार कहने, बहस करने पर भी जवाहर लाल की बात नहीं मानी ।

होमरूल आन्दोलन—स्वदेशी का स्वीकार, विदेशी का बहिष्कार और देशभक्ति का प्रचार—ने देश में जोर पकड़ा, तो लार्ड पेंटलैंड की सरकार ने 16 जून, 1917 के दिन 'टाइम्स' संपादक के शब्दों में "उपद्रवकारी कर्कशा बुढ़िया" और भारत सरकार के होम मेम्बर सर रेजीनलड क्रैडक के शब्दों में "एक घमण्डी बुढ़िया, आन्दोलनों की नेता बनने की तीव्र इच्छा से पीड़ित" श्रीमती एनीबेसेंट, अरंडेल और वाडिया को उटकमण्ड में नजरबन्द कर दिया । इतिहास का चमत्कार ही है कि इस घटना का अद्भुत प्रभाव इलाहाबाद पर पड़ा और जवाहर लाल नेहरू की जिद एवं दलीलों को बेकार बताने वाले पंडित मोती लाल नेहरू और उनके साथी तेज बहादुर सप्रू, मुन्शी नारायण प्रसाद अस्थाना, सी० वाई० चिन्तामणि आदि मद्रास सरकार की कार्यवाही के विरोध में 20 जून, 1917 की होमरूल लीग के मेम्बर हो गये ।

22 जून, 1917 की सभा में हजारों लोग जमा हुए और पंडित मोती लाल नेहरू ने अपने ओजस्वी स्वर में कहा—"सरकार ने हमारे राष्ट्रीय लक्ष्यों के प्रति खुले जेहाद का ऐलान कर दिया है । क्या हम इन अफसरी नाराजगियों के सामने झुक जायेंगे ? आइये, हम सभी होमरूल लीग के झण्डे को ऊँचा उठा दें और तैंतीस करोड़ कंठों से होमरूल का नारा बुलन्द करें । नीकरशाही जन्म से पहले ही होमरूल के लिए अर्थी तैयार कर रही है । आइये, हम लोग मजबूत दिलों से कवि के साथ यह कहते हुए आगे बढ़ें—'जो कुछ आना हो आये, हमने अपनी नाव समुद्र में उतार दी है ।'" 23 जून, 1917 को पंडित मोती लाल नेहरू उत्तर प्रदेश की होमरूल लीग के सभापति, सहारनपुर के पारसी बैरिस्टर बोमनजी मंत्री चुने गए और जवाहर लाल नेहरू को भी संयुक्त मंत्रियों में शामिल किया गया ।

उत्तर प्रदेश होमरूल को आन्दोलन नगर-नगर फैल गया और खूब धुआँधार मची, पर संतुलित राजनीतिज्ञ लैफ्टीनेन्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने अपनी अफसरशाही को आदेश दिया कि किसी प्रकार भी दमन न किया जाये और एक सतर्क दर्शक की तरह रहा जाये । आन्दोलन पूरी तेजी पर आ गया, तो वे चिन्तित हुए और उन्होंने लखनऊ इलाहाबाद के कमिश्नरों द्वारा पंडित मोतीलाल नेहरू से बात की । इस बातचीत की प्रतिक्रिया उन्होंने एक



गोपनीय पत्र में 7 जुलाई, 1917 के दिन बयमराय को भेजा। उन्होंने हार्मरूल लीग की इस शाखा को समर्थ और शक्तिशाली बनाया और आन्दोलनकारियों में गहराई के साथ फैली इस भावना का कि सरकार एक प्रतिक्रियावादी नीति अपनाने की तैयारी कर रही है, उल्लेख कर कहा—“मैं चाहता हूँ कि इंग्लैंड की सरकार के लिये यह सम्भव हो कि वह जान सके कि इस समय देश कितना अधिक उत्तेजित है और अधिकांश विचारशील लोग किसी भी घोषणा का कितनी उत्सुकता से स्वागत करेंगे।”

10 अगस्त, 1917 को लखनऊ में होने वाली प्रांतीय कांग्रेस के विशेष सम्मेलन में अध्यक्ष पद से पंडित मोतीलाल नेहरू ने सरकार की तीव्र आलोचना भी की और ब्रिटिश लोकतन्त्र के न्यायालय से न्याय की आशा भी प्रकट की। लार्ड पेंटलैन्ड की जल्दबाजी को धिक्कारा और सर जेम्स मेस्टन के संयम की प्रशंसा की। सम्मेलन के सिर्फ दस दिन बाद 20 अगस्त, 1917 को भारत मंत्री मांटैग्यू ने घोषणा की—“महामहिम सम्राट की सरकार की नीति है कि प्रभुसत्ता की प्रत्येक शाखा में भारतीयों का सहयोग बढ़े और इस दृष्टि से स्वशासित संस्थाओं का क्रमिक विकास हो कि ब्रिटिश साम्राज्य के आन्तरिक अंग के रूप में भारत में उत्तरदायी सरकार की क्रमिक परिणति हो।”

17 सितम्बर, 1917 को एनीबेसेंट और उनके साथी छोड़ दिये गये। 5 अक्टूबर को वे इलाहाबाद आई। स्टेशन पर तिलक, मोतीलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू और जवाहर लाल ने उनका स्वागत किया। जिस घोड़ागाड़ी में तिलक, एनीबेसेंट और मोतीलाल बैठे, युवकों ने उनके घोड़े खोल दिए और स्वयं खींचकर ले चले। तमाम सड़कें शण्डों-सण्डियों और द्वारों से सजी थी।

इस विवेचन से एक बात स्पष्ट है कि मांटैग्यू-फोर्ड सुधारों के रूप में जिस विधान से भारत में संसदीय लोकतन्त्र की धारा को आरम्भिक पोषण मिला, उसकी जन्मभूमि होने का गौरव भी उत्तर प्रदेश को ही प्राप्त है। इसमें कितने सन्देह होगा कि सारे देश की परिस्थितियाँ भी सरकार को प्रभावित कर रही थीं।

\* \* \*

## 6 : जाग उठे हल वाले

1857 के स्वतन्त्रता युद्ध में मीलवी अहमदुल्लाह शाह अपनी संगठन शक्ति के लिए और राणा बेनीमाधो सिंह अपनी रणशक्ति के लिए इतिहास में सदा नक्षत्र की तरह चमकते रहेंगे। मीलवी अहमदुल्लाह शाह की कर्मभूमि फँजाबाद और राणा बेनीमाधो सिंह की कर्मभूमि होने का सौभाग्य फँजाबाद और रायबरेली को प्राप्त हुआ था।

भारत की राजधानी दिल्ली सितम्बर, 1857 में ही फिर से अंग्रेजों के कब्जे में आ गई थी, अवध की राजधानी लखनऊ मार्च, 1858 में अपनी आजादी की पताका खींच चुकी थी, उत्तर प्रदेश की गौरवमणि महारानी लक्ष्मीबाई का बलिदान भी जून, 1858 में हो चुका था और भयानक देशव्यापी दमन के बाद 1 नवम्बर, 1858 को महारानी विक्टोरिया की इस घोषणा के बाद कि हमने ईस्ट इंडिया कम्पनी से हिन्दुस्तान की हुकूमत को अपने हाथों में ले लिया है, हिन्दुस्तान की गुलामी पर पक्की मोहर लग चुकी थी, पर रायबरेली के वीर राणा बेनीमाधो सिंह और उनके चारों ओर फैले बहादुर किसानों ने 1858 के अन्त तक अपने झण्डे की फहरान को झुकने नहीं दिया था और उसके बाद भी जब उन्होंने अपनी तलवारें धरती में गाड़ीं तो यही सोचा कि हम अपनी संघर्ष-भावना को धरती में बो रहे हैं। जो समय पर अवश्य फले-फूलेगी।

सचमुच 1919 में फँजाबाद, प्रतापगढ़ और रायबरेली के खेतों में संघर्ष की यह फसल एकदम लहलहा उठी और भारत के किसान-आंदोलन को इस रूप में जन्म देने का श्रेय इसी क्षेत्र को प्राप्त हुआ। यह भी इतिहास का एक चमत्कार ही था। बाबा रामचन्द्र का जन्म कहीं महाराष्ट्र में हुआ था। अपनी जवानी में वह कुलीप्रथा का शिकार हो फिजी चला गया। वहाँ से लौटा, तो वह यों ही घूमता-घामता अवध में आ गया और प्रतापगढ़ को उसने अपना कार्यक्षेत्र बना लिया। इस क्षेत्र की किसान जनता ताल्लुकेदारों के अत्याचारों से पीड़ित थी, लोग रात-दिन मेहनत करते, मरते-खपते, पर उनके हाथ कुछ भी न लगता। स्थिति को समझने के लिए यह समझना जरूरी है कि इस इलाके में न तो आजन्म काश्तकार थे, न दखीलदार-काश्तकार, सिर्फ आरूजी काश्तकार थे और जमींदार जब चाहे उन्हें बेदखल करा सकता था और ज्यादा लगान पर अपनी जमीन दूसरे किसान को दे सकता था। इस तरह



बढ़ते-बढ़ते लगान अपनी हद से भी आगे बढ़ गया था, पर किसान के सिर यही बोझ न था, ताल्लुकेदार के घर किसी की शादी होती, कोई लड़का विलायत जाता, गवर्नर की पार्टी होती, मोटर या हथ्थी खरीदा जाता, तो इनका भी टैक्स किसानों को देना पड़ता। हर एक किसान इस हालत में था कि उससे मरा जाता नहीं था और जीने के लायक उसकी परिस्थितियाँ न थीं।

बाबा रामचन्द्र ज्यादा पढ़ा-लिखा न था, पर उसमें संगठन शक्ति गजब की थी। वह रामायण पढ़ता और किसानों के सुख-दुःख की बातें करता। वह जोर से सीताराम—सीता...रा...म की धुन लगाता और किसान उसके चारों ओर इकट्ठे हो जाते। वह उनसे कुछ वादे करता और वे उम्मीदों से भर जाते। पूरा गाँव सीताराम की धुन लगाता और आस-पास के गाँव वाले उसी तरह सीताराम की धुन लगाते आ पहुँचते। इस तरह हजारों-हजारों की भीड़ जुड़ जाती और धुन लगाती। यह धुन बाबा रामचन्द्र का विंगुल भी था और किसानों की एकता का सूत्र भी।

बाबा रामचन्द्र कई बार पकड़ा गया, जेल गया, छूटकर आया और फिर धुन लगाने लगा। किसी बात पर सरकारी अधिकारी नाराज़ हुए तो बाबा रामचन्द्र के साथ कुछ और लोग भी पकड़े गए। मुकदमे के दिन कचहरी में भारी भीड़ इकट्ठी हो गई। मैजिस्ट्रेट ने घबराकर मुकदमा दूसरी तारीख के लिए मुलतवी कर दिया। इस पर भीड़ ने जेलखाना घेर लिया, मैजिस्ट्रेट और भी घबरा गया और सब नेता छोड़ दिये गये। यह हिन्दुस्तान के इतिहास की एक अद्भुत घटना थी और इसने किसान आन्दोलन को और आगे बढ़ा दिया।

रायबरेली जिले की चन्दनिहाँ रियासत का ताल्लुकेदार बड़ा जालिम था। उसके अत्याचारों का विरोध करने के लिए चन्दनिहाँ में ही एक सभा बुलाई गई। दूर-दूर के गाँवों से किसान सीताराम की धुन लगाते हुए आये। बाबा रामचन्द्र के आने की बात थी, पर वह नहीं आ सका, फिर भी जलसा कामयाब रहा और जनता ने ताल्लुकेदार त्रिभुवन बहादुर सिंह को जलसे में हाजिर होने का हुक्म दिया। अंग्रेज कलक्टर और पुलिस वहीं थी। दो नेता गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें चुपचाप लखनऊ सेन्ट्रल जेल भेज दिया गया।

जनता ने समझा, नेता रायबरेली जेल में बन्द किए गए हैं। प्रतापगढ़ के अनुभव का सहारा ले, वह भीड़ की भीड़ रायबरेली की तरफ बढ़ चली। कलक्टर ने फौज बुला ली और मुंशीगंज में घेराबन्दी की। भीड़ जोश में थी, नेताओं के छोड़ने के नारे लगा रही थी। शिवबालकृष्ण नाम का किसान युवक नेतृत्व कर रहा था। अंग्रेज कलक्टर के साथ खड़े सरदार वीरपाल सिंह ने उस पर पिस्तौल से गोली चला दी। रियाया के एक लड़के की इतनी हिम्मत उनके लिए असह्य थी। वह और कई दूसरे किसान वहीं शहीद हो गए। फौजी सवारों ने इसे गोली चलाने का आदेश समझा और खूब गोलियाँ चलाईं। बड़ा भयानक हत्याकाण्ड हुआ, पर उसे छिपाने के लिए लाशें सई नदी में फेंक दी गयीं। महान पत्रकार श्री गणेश शंकर विद्यार्थी ने इस हत्याकाण्ड पर 'प्रताप' में आन्दोलन किया। उन पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें एक साल की कैद और पांच सौ रुपये जुर्माने की सजा दी गयी।



इन्हीं विनीतों की नेतृत्व में खिलाफत और असहयोग का आन्दोलन देश में उभर रहा था, पर कमाल है कि इस किसान आन्दोलन से उसका कोई सम्बन्ध न था। इस किसान आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व का विकास। बात यह हुई कि जवाहर लाल जी मसूरी में अपनी बीमार माता और पत्नी की देखभाल कर रहे थे। उसी होटल में अफगानिस्तान के शाही खानदान के लोग भी ठहरे थे। देहरादून के अंग्रेज कलक्टर ने जवाहर लाल जी को आदेश दिया कि वे उन विदेशियों से न मिलें। जवाहर लाल जी उनसे कभी मिले ही न थे, पर यह आदेश अपमानजनक था, इसलिए उसे मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया। इस पर जवाहर लाल जी वहाँ से निर्वासित कर दिए गए और उन्हें इलाहाबाद लौटना पड़ा।

जवाहर लाल जी इलाहाबाद पहुँचे ही थे कि बाबा रामचन्द्र कुछ किसानों को लेकर वहाँ आया। अवध का किसान आन्दोलन इतना बढ़ गया था कि अपना व्यक्तित्व स्वयं बाबा को ही उससे छोटा लगने लगा था। उनके अनुरोध पर जवाहर लाल जी अवध गए। यह देहात से उनका पहला निजी सम्पर्क था। वे धूप में चले, पैदल घूमे और इस तरह उनके भीतर संघर्षशील व्यक्तित्व का विकास हुआ। खाम बात यह हुई कि उनकी अप्रवृत्ति मिट गई और वे किसानों में भाषण देने लगे। उनकी भाषा और भाव, दोनों ही इन भाषणों में मंज गए और उनके आरामतलब और ज्ञानदार जीवन ने संघर्षशील धर्म और सदाग्री के पाठ पढ़े। इससे भी बढ़कर उन्हें अपनी शक्ति का बोध हुआ और वे देश की वास्तविक समस्याओं के सीधे सम्पर्क में आ गये। मुन्शीगंज में जिस समय सई नदी के एक किनारे पर गोली चली, दूसरे किनारे पर जवाहर लाल थे। उन्हें किसानों का तार मिला था, इसलिए वे दौड़े आये थे, पर कलक्टर ने उन्हें दो घण्टे तक अपने बंगले पर बैठाये रखा। लोगों ने समझा वे गिरफ्तार हो गए हैं। कई हज़ार आदमी उधर इकट्ठे हो गए। जवाहर लाल जी ने उनमें भाषण दिया और उन्हें अनुशासनहीनता के लिए डाँटा, तो सरकार को भी हत्याकाण्ड के लिए फटकारा। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर प्रदेश का यह किसान-आन्दोलन अपने ढंग का निराला ही आन्दोलन था।

\* \* \*



## 7 : आनन्द भवन की मशाल

हिन्दुस्तान की राजनीति ने इंग्लैंड की सरकार के भारत सचिव मांटैग्यू से बहुत उम्मीदें बांधी थीं और सच तो यह है कि स्वयं मांटैग्यू ने अपने से बहुत उम्मीदें बांधी थीं। वे प्रधान मंत्री लायड जार्ज के मंत्रिमण्डल में इसी शर्त पर शामिल हुए थे कि उन्हें हिन्दुस्तान से सम्बन्धित पद दिया जाये। वे नवम्बर, 1917 में हिन्दुस्तान आये, तो वातावरण आशापूर्ण था कि हिन्दुस्तान को आजादी का बहुत बड़ा टुकड़ा मिलने वाला है, पर हिन्दुस्तान के वायसराय और उसकी मशीनरी ने उस टुकड़े को इस तरह नोचा-खसोटा कि जुलै, 1918 में जब मांटैग्यू की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो वह एक ऐसा भोजन थी, जिसे परोसा तो गया हो वेहद करीने के साथ, पर जिममें तत्व कुछ न हो। फिर भी नरम बल वालों ने उसे देवता के प्रसाद की तरह सिर आंखों पर उठा लिया।

गांधी जी का अन्तर्मन किसी बड़ी तैयारी में था। वे स्पष्ट न होकर भी किसी देशव्यापी आन्दोलन का तम्बू खड़ा करने की उधेड़बुन में थे। इस तम्बू के रस्से बांधने के लिए खूंटो बन गकने वाले कुछ व्यक्तित्व तो उनकी निगाह में थे, पर बीच की बल्ली बनने वाला कोई व्यक्तित्व नहीं मिल रहा था। उत्तर प्रदेश पर उनकी निगाह थी, पर उत्तर प्रदेश तो उस समय नरम राजनीति का प्रधान गढ़ बना हुआ था। फिर उत्तर प्रदेश में भालवीय जी महाराज थे। वे अपने अलग ढंग के नेता थे। किसी दूसरे के चलाये आन्दोलन का वाहन न बन सकते थे। मांटैग्यू रिपोर्ट ने आनन्द भवन के शाही व्यक्तित्व पंडित मोती लाल नेहरू पर गांधी जी की निगाह जमा दी। मोती लाल जी नरम राजनीति के खिलाड़ी थे, पर उनके स्वभाव में एक ऐसा दबंग अहं था, जो उन्हें नरभक्षी नेताओं से अलग करता था।

12 अगस्त, 1918 को जब मोतीलाल जी यू० पी० कौंसिल में नरम बली नेताओं के रिपोर्ट-समर्थक प्रस्ताव का विरोध करने को उठे, तो उनका बयान अहं पूरी तरह प्रज्वलित था—“ऐसा लगता है कि एक हाथ से जो दिया जा रहा था, उसे दूसरे हाथ से वापस लिया जा रहा है।...साम्राज्य के ऊपर कौन-सी आफत फट पड़ेगी, अगर कानून और व्यवस्था से संबंधित विभागों को छोड़कर बाकी सारे विभाग लोकप्रिय मंत्रियों के नियंत्रण में हों?”



दूसरे दिन पंडित मोती लाल ने अपना संशोधन-प्रस्ताव पेश किया। इसमें पुलिस, कानून और न्याय विभागों को छोड़कर बाकी विभाग विधान सभाओं के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों को सौंपने की बात थी। इस कार्यवाही ने पंडित मोती लाल को नरमदली नेताओं से अलग कर दिया। इसी महीने के अन्तिम मण्टाह में कांग्रेस का बम्बई में जो विशेष अधिवेशन हुआ, उसमें मोती लाल जी अपने पुत्र जवाहर लाल नेहरू के साथ शामिल हुए। कांग्रेस के प्रस्ताव की दिशा पंडित मोती लाल के प्रस्ताव की ही दिशा थी। कहना चाहिए, होमरूल की तरह मांटैग्यू रिपोर्ट पर भी उत्तर प्रदेश का वर्चस्व भारतीय नेतृत्व को स्वीकृत था। उन्हें भी भाषण के लिए निमन्त्रित किया गया।

इतिहास की तराजू भी अजीब तरह तुलती है कि वह कभी-कभी अचानक अपने बांट इस पलड़े से उठाकर उस पलड़े पर रख देती है। 1908 में नरमदली नेताओं ने गरम-दली नेताओं को कांग्रेस से बाहर निकाला था, पर 1918 में वे स्वयं कांग्रेस से बाहर फेंक दिए गए थे। सच तो यह है कि जनता के थर्मामीटर में उनका पारा बहुत नीचे चला गया था। उनमें से कांग्रेस के मंच पर मोती लाल जी ही थे, पर अब भी उनका भविष्य अनिश्चित था।

प्रथम महायुद्ध समाप्त हो गया था। हिन्दुस्तानी फौजों ने शानदार भीचें लड़े थे। इसलिए हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञ अंग्रेज सरकार से नये तीहफे की आशा कर रहे थे, पर सरकार ने 6 फरवरी, 1919 को बड़ी कौंसिल में रोलेट बिल (दो भाग) पेश कर सबको चौंका दिया। यह कानून सरकारी मशीनरी को नादिरशाही अधिकार देता था। गांधी जी तब तक देश के राजनैतिक आकाश में एक उगते नक्षत्र ही थे, पर उन्होंने घोषणा कर दी कि यदि ये कानून वापस न लिये गए तो मैं सत्याग्रह-युद्ध छेड़ दूंगा।

इस घोषणा ने उनके मन के तम्बू का रूप सामने कर दिया, तो उन्हें उसके लिए केन्द्रीय बल्ली की जरूरत और भी तेजी से महसूस हुई। वे 12 मार्च, 1919 को पंडित मोती लाल नेहरू से मिलने इलाहाबाद गए। उनके अन्तर्मान में मोती लाल जी का अर्थ था उत्तर प्रदेश और उत्तर प्रदेश का अर्थ था देश। इलाहाबाद में गांधी जी ने दो चमत्कारिक मनोवैज्ञानिक दांव चले। जवाहर लाल जी को, जो सत्याग्रह में कूदने को उफन रहे थे और पिता के दारुण क्रोध के नियन्त्रण से बाहर हो रहे थे, धीरे चलने और ऐसा कोई काम न करने की सलाह दी, जो उनके पिता को बुरा लगे। साथ ही वही बंटे-बंटे उन्होंने बायसराय को एक तार दिया—“रोलेट बिलों को पास करने से पहले तनिक ठहरें और सोचें। ऐसी कार्यवाहियों के समय लोकमत की शक्ति के बारे में, वह उचित हो या अनुचित, गलती नहीं होनी चाहिए।” इस यात्रा से मोती लाल जी आ गए गांधी जी के और पास और जवाहर लाल जी आ गये उनके प्रेमबन्धन में, पर अभी गांधी जी की पूरी विजय दूर थी।

6 अप्रैल, 1919 को एक दिन की हड़ताल से गांधी जी ने अपना आन्दोलन आरम्भ किया, जनता ने बहुत उत्साह से साथ दिया, पर दिल्ली, अमृतसर, बम्बई, अहमदाबाद में



उपद्रव हो गए और गांधी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया और बिना जनता को तैयार किए, उसकी मन:स्थिति को पूरी तरह बिना समझे आन्दोलन आरम्भ करने को अपनी 'हिमालय जैसी बड़ी भूल' माना। उफनती तरुणाई के प्रतिनिधि जवाहरलाल नेहरू सत्याग्रह मभा में शामिल होने को बेचैन थे। इसका अर्थ था उनका जेल जाना। मोती लाल जी उन्हें रोक रहे थे, पर रात में चुपचाप जमीन पर सोकर यह भी देख रहे थे कि उनके बेटे को जेल में कैसा जीवन बिताना पड़ेगा।

सत्याग्रह स्थगित होने के नतीजों की अभी देखभाल भी न हुई थी कि 13 अप्रैल, 1919 को पंजाब के अमृतसर नगर में 'जलियांवाला बाग' हो गया, जहाँ निहत्थे सैकड़ों हिन्दुस्तानी मशीनगन की गोलियों से भून दिए गए। नागरिकों की इज्जत अंग्रेजी सरकार के अफसरों की मर्जी का खिलौना बन गई। खुले आम लोगों को बेंत लगाना तो मामूली बात थी, नागरिकों को मड़कों पर रेंग कर चलने के लिए विवश किया गया। लाहौर में छात्रों को गुनियन जैक (अंग्रेजों के झण्डे) को मलामी देने के लिए तपती धूप में मीनों दीड़ाया गया। नगरों पर बम गिराये गए, हवाई जहाज से गोलियाँ चलाई गईं। सर्वोत्तम नागरिकों पर, जिनकी संख्या 258 थी, फौजी अदालत में मुकदमा चलाया गया, जिनमें से वाद को 51 को फांसी, 46 को आजन्म कालापानी और बाकी को दस से तीन वरस तक की कैद की सजा दी गयी।

पंजाब में यह हो रहा था, पर जुलाई, 1919 तक देश के दूसरे हिस्सों को इसकी भनक तक न थी। सबसे पहले कलकत्ता में इसकी सूचना कांग्रेस को मिली। पंडित मोतीलाल नेहरू ने एक प्रसिद्ध कांग्रेसी लाला हरकिशन लाल के केस की पैरवी करने की इजाजत पंजाब सरकार से मांगी, पर उन्हें पंजाब में घुसने की इजाजत नहीं दी गई। मोतीलाल जी ने एक बहुत दूर का निशाना लिया। उन्होंने भारत सरकार के होम मन्त्र को लम्बा तार दिया और उसकी प्रतिलिपि लन्दन में मांटिंग्यू और लार्ड सिन्हा को भेज दी। निशाना ठीक बैठ। मांटिंग्यू ने वायसराय से सफाई मांगी और बाहर से वकीलों के आने पर पाबन्दी लगाने को नापसन्द किया। इससे राह खुल गई और मोतीलाल जी लाहौर पहुंच गए। इससे बहुत राहत मिली जनता को, अब कोई तो था जो उनके दर्द को सुने-सहलाये।

कांग्रेस ने जो जांच समिति बनाई, उसमें मोतीलाल जी और गांधी जी ने साथ-साथ काम किया। दोनों ने एक दूसरे को और अधिक समझा और दिसम्बर, 1919 में मोतीलाल जी अमृतसर कांग्रेस के सभापति चुने गए। कांग्रेस से पहले ही सरकार ने मार्शल ला के कैदियों की आम रिहाई की घोषणा कर दी। अमृतसर कांग्रेस गांधी जी के प्रभाव की पहली कांग्रेस थी और उनके लिए इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि वह गहरा आदर था, जो इन दिनों में पंडित मोतीलाल जी के मन में उनके प्रति उमड़ आया था। जवाहरलाल जी तो गांधी जी को शक्ति का अक्षय भण्डार मानने ही लगे थे।

मार्च, 1920 में कांग्रेस जांच समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और मई में सरकारी जांच समिति—हंटर कमेटी—की रिपोर्ट। सरकारी रिपोर्ट में अफसरों के अत्याचारों पर

गांधी जी के शब्दों में—“हल्की लीपा-पाती की गई थी, पर जवाहर लाल जी ने जब उसका संक्षिप्त सार मोतीलाल जी को भेजा, तो वे चौखला उठे। जवाहरलाल जी को उन्होंने लिखा—“जब से तुम्हारे भेजे संक्षिप्त सार मैंने पढ़े हैं, मेरा खून खौल रहा है। हम लोगों को अवश्य ही अभी कांग्रेस का विशेष अधिवेशन करना चाहिए और इन दुष्टों के लिए एक कयामत बरपा करनी चाहिए।”

यह उत्तर प्रदेश के आनन्द भवन की मशाल का जल उठना था। बी० आर० नन्दा के शब्दों में—“गांधीजी का जीता गया सबसे पहला और सबसे अधिक निर्णायक क्षेत्र इलाहाबाद का आनन्द भवन था।”

\* \* \*



## 8 : जागी मस्जिद, जागे मंदिर-गुरुद्वारे

उधर जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड से देश के सभी भागों में वेचनी थी, उधर एक ओर ही गरमी देश में बढ़ रही थी। इस गरमी से देश के मुसलमान वेचन हो रहे थे। यह गरमी थी खिलाफत की। टर्की का सुलतान संसार भर के मुसलमानों का खलीफा (धर्म गुरु) माना जाता था। दूसरे महायुद्ध में हिन्दुस्तानी मुसलमान सैनिकों ने इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री लायड जार्ज के वादों पर भरोसा करके टर्की में अपने ही सहधर्मियों से युद्ध किया था। प्रधानमन्त्री युद्ध जीतने पर अपने वादों से हट रहे थे। इस कारण हिन्दुस्तानी मुसलमानों में क्रोध की लहर थी। टर्की का साम्राज्य बिखर रहा था और खलीफा की प्रतिष्ठा खतरे में थी।

10 मार्च, 1920 को गांधी जी फिर मैदान में आ गये। उन्होंने घोषणा की कि यदि तुर्की के साथ संधि की शर्तें हिन्दुस्तान के मुसलमानों के भावों के विरुद्ध हुईं तो मैं असहयोग आन्दोलन शुरू कर दूंगा। उन्होंने मुसलमानों को समझाया कि अहिंसात्मक असहयोग ही मुसलमानों के लिए एकमात्र राह है। मुसलमानों के लिए अहिंसा की बात दुविधा की थी; क्योंकि इस्लाम में दुश्मन के खिलाफ तलवार उठाना धर्म है, पर बहस के बाद इसे स्थायी सिद्धान्त के रूप में नहीं, सामयिक नीति के रूप में मान लिया गया।

कांग्रेस समिति ने असहयोग के प्रश्न पर विचार करने के लिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाने की बात तय की। गांधी जी ने देश के सभी दलों के नेताओं का एक सम्मेलन इलाहाबाद में बुलाया। इसमें स्कूलों, कांग्रेसों, अदालतों के बहिष्कार की योजना सर्वसम्मति से मान ली गई, पर मद्रास की खिलाफत परिषद ने उपाधियों, पुलिस, फौज और दूसरी तरह की सरकारी नौकरियों, आनरेरी पदों और कीसिल की भेम्बरियों का वायफाट भी जोड़ दिया।

उत्तर प्रदेश के महान पुत्र, राष्ट्रीय मुसलमानों के सिरमौर, शेखुल हिन्द मोलाना हुसैन अहमद मदनी की प्रेरणा से कराची में यह फतवा दिया गया कि हिन्दुस्तान की जमीन अब युद्ध-भूमि (बारुल-हरब) हो गयी है। इसके बीच में जो भी मुसलमान हैं, उनको इस्लाम का हुक्म है कि वे युद्ध में लड़ें और जो न लड़ सकते हों, वे हिजरत करें, उस भूमि से बाहर हो जायें। इस फतवे से मुल्क में एक तरफ तो यह असर हुआ कि मुसलमान गांधी जी के झण्डे



के नीचे पूरी तरह से आ खड़े हुए और दूसरी तरफ यह कि कई हजार मुसलमान हिजरत करे अफगानिस्तान की तरफ बढ़ चले। यह बाढ़ इसलिये रुक गई कि इन शरणार्थियों का प्रवेश अफगानिस्तान की सरकार ने अपने यहाँ रोक दिया। मतलब यह कि मुसलमानों के लिए लड़ने के सिवा कोई रास्ता ही न था। संक्षेप में, खिलाफत आन्दोलन के शिलान्यासकर्ता मौलाना हुसैन अहमद मदनी थे तो अली बन्धु उसकी भुजा थे और गांधी जी मस्तिष्क। इस परिस्थिति ने हिन्दू-मुसलमानों को 1857 के विद्रोह की तरफ एक मंच पर खड़ा कर दिया। इस आन्दोलन की यह सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

अमृतसर कांग्रेस के दिनों पंडित मोतीलाल नेहरू और मुस्लिम लीग के अधिवेशन के अध्यक्ष हकीम अजमल खाँ एक साथ सिक्खों के गुरुद्वारे में प्रार्थना करने गये थे। ज्यों-ज्यों आन्दोलन जोर पकड़ता गया, यह मेल-मिलाप भी गहरा होता गया। यह गहराई कितनी हार्दिक थी, इसका बस एक ही दृश्य। देवबन्द के एक शिव मन्दिर में शाम के समय आसपास के हिन्दू आरती कर रहे थे। बाहर सड़क पर मुसलमानों का एक जुलूस नारे लगाता जा रहा था—‘नारा-ए-तकवीर अल्लाहो-अकबर।’ घन्टे-घरनावल-झाँझ-झाँझ की संयुक्त झंकार सुनकर जुलूस का एक मुसलमान नौजवान कौतूहलवश मन्दिर के चौक में आ गया। आरती करने वाले हिन्दू मन्दिर के चबूतरे पर थे, वह मुसलमान युवक चबूतरे के नीचे। किसी हिन्दू का ध्यान उसकी तरफ गया। आन्दोलन के वातावरण ने संस्कारों और विचारों तक फैले भेद-भाव को किस हद तक धूमिल कर दिया था, इसका पता तब चला जब किसी हिन्दू ने उसे भी इशारे से ऊपर बुला लिया और वयोवृद्ध भोदत्त बाबा ने अपने हाथ की घरनावल और मूंथरी उस युवक के हाथों में थमा दी और वह भी सबके साथ आरती में शरीक हो गया। आरती के बाद पुजारी ने नारा लगाया—हर-हर महादेव, तो सबके साथ वह मुसलमान युवक भी पूरे उत्साह से उसमें शरीक हुआ और इसके तुरन्त बाद उस युवक ने नारा लगाया—अल्लाहो-अकबर तो उसमें भी सब शामिल हो गये।

28 मई, 1920 को खिलाफत कमेटी ने बम्बई में गांधी जी के असहयोग को अपना एकमात्र रास्ता मान लिया था और इसके दो दिन बाद कांग्रेस महासमिति ने अपनी वाराणसी की बैठक में देश की परिस्थितियों का गम्भीर विचार-मंथन करने के बाद कांग्रेस का विशेष अधिवेशन करने का निश्चय किया था। यह अधिवेशन 4 से 9 सितम्बर, 1920 तक कलकत्ता में हुआ। लाला लाजपत राय सभापति बने। गांधी जी ने असहयोग का प्रस्ताव पेश किया, तो कांग्रेस के बड़े नेता पंडित मदन मोहन मालवीय, चितरंजन दास, लाला लाजपत राय और विपिन चन्द्र पाल भड़क उठे। तिलक की मृत्यु एक अगस्त 1920 को हो चुकी थी। इन लोगों ने गांधी जी के प्रस्ताव का धुआँधार विरोध किया और गांधी जी को भी खूब उधेड़ा। ये घन्टों-घन्टों दहाड़ने वाले नेता थे और गांधी जी सीधी-सादी भाषा में अपनी बात कम से कम शब्दों में कहने वाले। फिर अपने कदो-कामत, रूप-स्वरूप और वेष्ट-विन्यास में भी ये लोग प्रभावशाली व्यक्तित्व थे, तो गांधी जी एक देहाती नागरिक। इन दोनों में कितनी दूरी थी, इसका पता इस बात से चलता है कि विपिन चन्द्र पाल ने एक संशोधन पेश किया, जिसमें इंग्लैंड के प्रधान मंत्री से अनुरोध था कि वे हिन्दुस्तान के शिष्ट-मण्डल से मिलने की कृपा



करें। चित्तरंजन दास ने इसके समर्थन में जोरदार भाषण दिया। साफ़ बात है कि ये नेता सीधी टक्कर से गवरा रहे थे; क्योंकि असहयोग की पहली ही टक्कर में इन्हें अपनी लाखों रुपये की कपड़ा-बकालत छोड़नी पड़ती थी। सन्मयुग यह जीवन की उथल-पुथल का प्रश्न था। आराम और शान की जिन्दगी छोड़ कर तपस्वी की जिन्दगी को अपनाने की बात थी। यह तो मछली गर्दों के पलंग से उतर कर लीचे टाट पर बैठना था। फिर सीधी टक्कर के लिये जिस सज्जन आत्मविश्वास की आवश्यकता होती है, वह उस युग की आदत ही नहीं थी। प्रार्थना ही उस युग की राजनीति का जीवनधर्म था।

उत्तर प्रदेश का नेता कहाँ था? गांधी जी के साथ या गांधी विरोधियों के साथ? पंडित मोतीलाल नेहरू गांधी जी के साथ थे। गांधी जी की हार उनके लिये असह्य थी। उन्होंने संशोधन पेश किया कि अदालतों और शिक्षा संस्थाओं का बहिष्कार धीरे-धीरे किया जाये। यह बड़ा जबरदस्त दांव था। इसमें बड़े नेताओं को आश्वासन भी था और उनके सम्मान के लिये एक दमबोट फँदा भी था। आश्वासन यह कि अरे, आज ही तो सब कुछ नहीं हो रहा है और फंदा यह कि तुम धीरे-धीरे भी आगे बढ़ने को तैयार नहीं, तो फिर जाओ लिबरलों-नरमदलियों में। दूरदर्शी गांधी जी ने तुरन्त इस संशोधन को स्वीकार कर लिया और उत्तर प्रदेश उनके साथ खड़ा हो गया। उत्तर प्रदेश के वजन का पता इस बात से लगता है कि गांधी जी का असहयोग का प्रस्ताव कुल 7 वोटों के बहुमत से ही पास हो सका था।

अभी एक खाई और थी, जिसे गांधी जी को पार करना था। वह थी नागपुर कांग्रेस में असहयोग के प्रस्ताव को अन्तिम रूप से पास कराना। चित्तरंजन दास बंगाल, आसाम से 250 प्रतिनिधि अपने साथ लेकर नागपुर कांग्रेस में आये। उन्होंने 35-36 हजार रुपये इसके लिये अपने पास से खर्च किये। उनका उद्देश्य कलकत्ता के प्रस्ताव को टलटना था, पर कलकत्ता के पंडित मोतीलाल जी, जवाहरलाल जी और नागपुर के पंडित मोतीलाल जी, जवाहरलाल जी एक न थे। कलकत्ता कांग्रेस से लौटकर पंडित मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू ने अपनी लाखों रुपये की बकालत छोड़ दी थी, बेटी कृष्णा को स्कूल से हटा लिया था, अपने कीमती घोड़े और शानदार गाड़ियाँ, कुत्ते, बेहद कीमती विदेशी स्फटिक और चीनी के बर्तन बेच दिये थे। पंडित जी के घर अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी भोजनालय अलग-अलग थे। अब हिन्दुस्तानी दाल, रोटी, चावल रह गये थे। विदेशी शराब का भण्डार खत्म कर दिया गया था और नौकरों की फौज खत्म हो गयी थी—काम भर के दो-चार भौंकर रह गये थे। बी० आर० नन्दा के शब्दों में—“इलाहाबाद के चुने हुये लोगों का क्लब बनने के बजाय, अब आनन्द भवन खादीधारी साधारण से दीखने वाले लोगों के ठहरने की सहाय हो गया था।” इसके साथ ही मोतीलाल जी ने यु० पी० कौंसिल की सदस्यता से भी त्याग-पत्र दे दिया था।

यह एक विलासी और सर्वोच्च वैभवशाली मानव के जीवन में त्याग बलिदान की क्रान्ति थी। इस क्रान्ति का दर्शन लोगों को उस दिन हुआ, जिस दिन आनन्द भवन के बस्तों की होली हुई। सभी सूट विदेश के सिले हुये थे, बेहद कीमती, बेहद खूबसूरत थे और साड़ियाँ करीब-करीब सभी जरी से कढ़ी-मढ़ी थीं। जब ये कपड़े ठेलों पर बाँदकर चौक में ले



जाये गये, तो रास्ते में लोग दाँतो तले उंगली दबाकर रह गये। लंगता था किसी कला-संग्रहालय का सामान नये मकान में जा रहा है। होली की जगह इनका ढेर लग गया और आग की लपटें उठीं, तो लगा उसने नेहरू वंश के वस्त्र नहीं जलाये, उसका सारा कलमप फूंक कर उसे कुन्दन बना दिया है। इस होली के बाद जब पहले पहल नेहरू-वंश के लोगों ने खादी पहनी, तो स्वर्ग के देवता भी उस सबको देखकर भौंचक्के रह गये। बाद में तो खादी ने अति उत्तम वस्त्र का रूप धारण किया, पर 1920 की खादी पहनना तो एक साधना ही थी। पूरे पाट की धोती तब नहीं होती थी। चादर की तरह मोटे थान के दो पाट जोड़कर धोती बनानी पड़ती थी। यही मोती लाल और जवाहर लाल नागपुर में थे और चितरंजन दास की स्पर्धा, बकालत और नेतृत्व दोनों में, सिर्फ पंडित मोती लाल जी से ही थी। वे गांधी जी के असहयोग का विरोध ही करते रहते, तो पंडित जी से बहुत पीछे रह जाते। छूले अधिवेशन में चितरंजन दास ने ही असहयोग का प्रस्ताव पेश किया और लाला लाजपत राय उसके समर्थक बनकर मंच पर आये। अधिवेशन में कांग्रेस संगठन का जो रूप बना, उसमें पंडित मोती लाल नेहरू उसके प्रधान मंत्री बनाये गये। इससे पहला संगठन पोपला था और एक त्यौहार की तरह उसका वार्षिक उत्सव ही उसका पहला और अन्तिम काम होता था। कहा जाना चाहिये कि कांग्रेस को एक देश-व्यापी, मजबूत और व्यवस्थित संगठन उत्तर प्रदेश ने ही दिया। पंडित मोती लाल जी ने अपने बकालत के काम की तरह ही इस काम में रात-दिन मेहनत की और जवाहर लाल जी ने पूरी तरह उनका हाथ बटाया।

नागपुर कांग्रेस के बाद खिलाफत और कांग्रेस का आन्दोलन दो होकर भी एक ही हो गये। प्रोग्राम एक था, नेता एक था, शत्रु एक था—बस चारों ओर एकता ही एकता थी। आन्दोलन बहुत शान्त था। यह असहयोग था कि बालक सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों में न पढ़ें, लोग अपने मुकदमें पंचायतों में निपटा लें, सरकारी नौकरियाँ और उपाधियाँ लोग छोड़ दें, विदेशी वस्त्र न पहनें, चर्खा चलायें, छुआछूत की भावना से बचे। असहयोग तो ऐसा था, जैसे परिवार में कोई अपनों से ही रूठ जाये। उत्तर प्रदेश सरकारी दमन में सारे देश में सर्वोत्तम था। गिरफ्तारियाँ थीं, दफा 144 के प्रतिबन्ध थे, डण्डेबाजी थी और लोग बन्दूकों से भी भूने गये थे।

16 अगस्त, 1921 को जब पटना में कांग्रेस कार्य समिति की बैठक हुई, तो उसके सामने एक पत्र पेश हुआ। इसमें उत्तर प्रदेश कांग्रेस ने हरदोई जिले में लगाई अनुचित 144 धारा के विरुद्ध सत्याग्रह करने की आज्ञा माँगी थी। यह गंगा-जमना के प्रदेश की हंकार थी, यह सत्याग्रह की पहली गुहार थी; क्योंकि देश में आन्दोलन असहयोग का था, सत्याग्रह का नहीं। इस पत्र पर विचार स्थगित कर दिया गया, पर नवम्बर, 1921 को कांग्रेस महासमिति की दिल्ली बैठक में प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों को अपनी जिम्मेदारी पर सत्याग्रह, जिसमें करबन्दी भी शामिल है, करने की इजाजत दी गई। फिर क्या था? फिर तो आन्दोलन में गर्मी का ज्वार आ गया, लेकिन गांधी जी भी बहुत सँभलकर चल रहे थे और सरकार भी। सरकार की सावधानी के कई कारण थे। पहला यह कि वह ऐसा वातावरण नहीं बनने देना चाहती थी कि मांटिग्यू-चेम्सफोर्ड-सुधार जन्म लेते-लेते ही मर जायें। दूसरे उसे यह उम्मीद थी



कि कांग्रेस में फूट पड़ेगी और कांग्रेस आप ही भीतर से टूट जायेगी। तीसरा कारण यह था कि प्रिंस आफ वेल्स हिन्दुस्तान आने वाले थे और वह उन्हें वहिष्कार का सामना करने से बचाना चाहती थी। अन्तिम और बड़ा कारण यह भी था कि जनता में गांधी जी की पूजा देवताओं की तरह हो रही थी और वायसराय लार्ड रीडिंग उन पर हाथ डालने की बात तय नहीं कर पा रहे थे, पर उत्तर प्रदेश के नेता कुछ बहुत तेज काम करने के मूड में थे।

गांधी जी ने जब अली बन्धुओं का उनसे नरम वक्तव्य दिलाकर, मुकदमे से बचाने की कोशिश की, तो पंडित मोतीलाल नेहरू ने उन्हें एक बहुत सख्त चिट्ठी लिखी, उसकी कुछ पंक्तियाँ थी—“जो बात मेरे मन पर कुछ वक्त से वजन डाल रही है, वह यह है कि हम लोग, जो अपने बहुत से कार्यकर्ताओं के जेल जाने और दूसरी तकलीफों को भुगतने के लिये सीधे तौर पर जिम्मेदार हैं, खुद उन तकलीफों से बंचे हुये हैं। मिसाल के लिये सरकार मुझे तकलीफ और दिमागी परेशानी पहुंचाने के लिये इससे ज्यादा सजा का कोई तरीका नहीं निकाल सकती थी कि मेरे लिखे, पढ़े बाँटने पर वह बेकसूर लड़कों को जेल में डाले। मैं समझता हूँ कि अब वह वक्त आ गया है कि जब नेताओं को तकलीफ उठाने के मौकों का स्वागत करना चाहिये और बचाव के फुसलावों से बिल्कुल इन्कार कर देना चाहिये।”

गांधी जी इधर-उधर हुई हिंसाओं की घटनाओं से बहुत ही बेचैन थे, पर उत्तर प्रदेश और खुद उनका प्रदेश गुजरात उन पर तेज कदम का जोर डाल रहे थे। दोनों की मनोदशाओं का पता नवम्बर, 1921 की बैठक से चलता है। गांधी जी ने जब यह कहा कि सत्याग्रह में हिंसा लेने की इजाजत किसी को देने से पहले यह जरूरी है कि हम उसे अच्छी तरह कातना सिखा दें, तो पंडित मोतीलाल नेहरू ठहाका मारकर हँस पड़े और केलकर एवं पटेल ने बहुत गुस्से से उसका विरोध किया।

आन्दोलन ने और जोर पकड़ा और वायसराय ने प्रशासन को तेजी दी। सितम्बर, 1921 में अली बन्धु सेना को भड़काने के इजलाम में गिरफ्तार कर लिये गये। पैतालिस भारतीय नेताओं ने, जिनमें गांधी जी नम्बर एक पर थे, इसके विरोध में एक जोरदार घोषणा की। उसकी कुछ पंक्तियाँ थी—“हमारी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के यह विरुद्ध है कि कोई भी हिन्दुस्तानी उस सरकार में नागरिक कर्मचारी और उससे भी अधिक सैनिक के रूप में काम करे, जिसने हिन्दुस्तान को आधिक, नैतिक और राजनैतिक दृष्टि से गहरे गड्ढे में ढकेल दिया है।” इस घोषणा पर पंडित मोतीलाल नेहरू और जवाहर लाल नेहरू दोनों के दस्तखत थे। यह सरकार को खुली ललकार थी। वायसराय ने इंग्लैंड तार दिया—“यह बेहद जरूरी है कि हम ज्यादा तेजी और बड़े पैमाने पर कार्यवाही करें। हम सूबों की सरकारों को यह आश्वासन दे रहे हैं कि अगर पुलिस या सेना को गोली चलाने पर मजबूर होना पड़े, तो हम उन्हें पूरी मदद देंगे। हम उन्हें यह भी सूचित कर रहे हैं कि अगर कानून की रक्षा और सरकार के प्रति आदर की दृष्टि से किसी भी आदमी को, चाहे वह कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, कैद करना और सजा देना वे जरूरी समझें, तो ऐसा करने में तनिक भी न हिचकिचायें।”

सरकार मोर्चे पर आ गई थी। उत्तर प्रदेश में गिरफ्तारियों की धूम मच गई और



जिलों के नेता चुन-चुन कर गिरफ्तार किये गये। 6 दिसम्बर, 1921 को जब पंडित मोती लाल नेहरू और जवाहर लाल नेहरू कांग्रेस-दफ्तर में काम कर रहे थे, पुलिस आनन्द भवन आ पहुँची। उनके पास दोनों की गिरफ्तारी का वारन्ट था। दोनों एक मोटर में बैठकर जेल भेज दिये गये। 7-दिसम्बर को जेल में ही मुकदमा हुआ और दोनों की छह-छह महीने की कैद और पाँच-पाँच सौ रुपया जुर्माने की सजा दी गई। मुकदमे के समय 4 वर्ष की इन्दिरा अपने दादा की गोद में बैठी रही। बेचारे न्यायाधीश को क्या पता था कि भारत के दो प्रधान मंत्री एक साथ उसके सामने बैठे हैं। दोनों ने जुर्माना भरने से इन्कार कर दिया। पुलिस जुर्माना वसूल करने के लिये आनन्द भवन पहुँची और हजारों रुपये का कीमती सामान उठा लायी। पुलिस-अधिकारी को बालिका इन्दिरा ने जिस गुस्से भरे विरोध का शिकार बनाया, वह उसके भावी तेजस्वी जीवन की पहली शक्ती थी।

इन्हीं दिनों उत्तर प्रदेश में तिरंगे झण्डे के सम्मान के लिये विश्व की वीरता के इतिहास में स्मरणीय एक बलिदान हुआ। एक अनपढ़ ग्रामीण बुढ़िया के आत्मगौरव की भावना ने अंग्रेजी सरकार की शक्तिशाली मशीनरी का पानी उतार दिया। घटना इस प्रकार है—“करँहा रियासत का जागीरदार बहुत जालिम था। जनता का शोषण करना तो सभी सामन्त अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे, पर यह जागीरदार जुल्मों के नये-नये रूप खोजने में आचार्य था। बेदरदी से लोगों को पीसता, बेरहमी से फिर हँसता।

शुनकूसिंह इसी की रियासत का एक साधारण ग्रामीण था, पर उसमें जीवट थी। बाबा रामचन्द्र के किसान आन्दोलन की बातें छसने बड़े-बूढ़ों से सुनी थी। एक दिन उसकी आत्मा जाग उठी, उसने लोगों को ललकारा—क्या हम अत्याचार सहने के लिए ही पैदा हुए हैं? सैकड़ों आदमी उसके चारों ओर आ जुटे—बोलो, हमें क्या करने को कहते हो?

वह करँहा की गढ़ी की तरफ बढ़ा, वे भी बड़े और इन सबने गढ़ी को घेर लिया, पुलिस जागीरदार की मदद को आ पहुँची। शुनकूसिंह के हाथ में तिरंगा झण्डा था। उसने उसे ऊँचा किया और नारे लगाये। सबने उसका साथ दिया। थानेदार इन नारों से मुंह-छिना-सा हो गया। नारे और भी जोर से गूँज उठे। वह शुनकूसिंह के हाथ से झण्डा छीनने को आगे बढ़ा। थानेदार तगड़ा था, शुनकूसिंह कमजोर। झण्डे के अपमान का खतरा देख, वह झण्डा थामे-थामे थानेदार से लिपट गया, जिससे वह झण्डा न छीन सके।

थानेदार ने शुनकूसिंह को दबोचकर जमीन पर गिराया, पर पकड़ मजबूत थी, थानेदार भी साथ ही गिरा। इस हंगामे में झण्डा एक तरफ को खिसका, तो सिपाही उधर को लपकें कि झण्डा उठा लें, पर बुढ़िया भगतिन उनसे पहले ही झण्डे को लिपट गई। जैसे-तैसे थानेदार उठा और उठते ही उसने पिस्तौल चला दी। गोली शुनकूसिंह की छाती में लगी और वे वहीं शहीद हो गये।

झण्डा अब श्री बुढ़िया भगतिन की दबोच में था। थानेदार और सिपाहियों ने उसे खींचा, घसीटा, थपड़ाया, मसला, पर बुढ़िया की पकड़ ढीली न पड़ी। यह देह की पकड़ न



थी, आत्मा की पकड़ थी। क्रुद्ध थानेदार की गोली ने आत्मा और देह का सम्बन्ध विच्छेद कर दिया, पर विदा होते समय आत्मा ने देह को देश के सम्मान की जो धरोहर सौंपी थी, उतका पूरा ध्यान रखा। वूढी भगतिन का शव तिरंगे झण्डे के साथ ही चिता पर रखा गया, जैसे कोई अपने पुण्यों की गठरी लिये-लिये ही स्वर्ग जाने का दैवी पासपोर्ट पा गया हो।

उत्तर प्रदेश पूरी तरह भड़क उठा और जलसे-जुलूसों की घूम मच गई। लगातार बन्दी के नमशे बनने लगे। देश की हालत का पता इस बात से लगता है कि 25 दिसम्बर, 1921 को यूरोपियन एसोसियेशन कलकत्ता के भोज में वायसराय लार्ड रीडिंग ने कहा कि—“सारे देश में आग लगी हुई है, भेरी समझ में नहीं आता मैं क्या करूँ?” अंग्रेज कितने घबराये हुए थे, खास कर उत्तर प्रदेश में वे कितने भयभीत थे, इसका पता 10 मई, 1921 की एक घटना से लगता है। 1857 में 10 मई को ही मेरठ में गदर आरम्भ हुआ था। और संयोग की बात 10 मई, 1921 को ही पंडित मोतीलाल नेहरू की बड़ी लड़की का विवाह निश्चित हो गया। इस विवाह में देश के इतने राजनैतिक नेता शामिल हुए कि अंग्रेज अफसर यह सोचकर घबरा गये कि यह फिर से गदर करने की तैयारी है। उन्होंने यह भी सोचा कि अंग्रेज औरतों और बच्चों को सुरक्षा की दृष्टि से इलाहाबाद के किले में पहुंचा दिया जाये।

घबराहट और उत्साह के इसी धूपछाई वातावरण में 31 जनवरी, 1922 को कांग्रेस कार्यसमिति ने बारडौली को करबन्दी सत्याग्रह करने की इजाजत दी और देश को यह निर्देश कि वह बारडौली के साथ सहयोग करे। इस महान निर्णय के कुल पाँच दिन बाद 5 फरवरी, 1922 को उत्तर प्रदेश के चोरीचोरा, जिला गोरखपुर में कांग्रेस के एक जुलूस ने इक्कीस पुलिस सिपाहियों और एक थानेदार को थाने के भीतर खदेड़कर आग लगा दी, जिससे वे सब जल मरे। 12 फरवरी, 1922 को कांग्रेस कार्यसमिति ने गांधी जी के अनुरोध पर असहयोग आन्दोलन को वापस ले लिया और कार्यकर्तियों से चर्खे के प्रचार, राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना और नशा-निषेध जैसे रचनात्मक कार्यों में लगने को कहा गया।

क्या चोरीचोरा में कांग्रेसी लोग अकारण ही भड़क उठे थे और शतान के चक्कर पर चढ़ उन्होंने पुलिस के इक्कीस सिपाहियों और एक थानेदार को थाने में बन्दूक फूँक दिया था? यहाँ यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है और स्वाधीनता संग्राम के 25 वर्षों में और स्वतन्त्रता के 25 वर्षों में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। हाँ, दुःख है कि यह सत्य नहीं है और इसके सत्य का उद्घाटन किया है स्वयं चोरीचोरा काण्ड के विद्यार्थी श्री द्वारका प्रसाद पाण्डेय ने।

1920-21 में गोरखपुर में कांग्रेस का संगठन गाँव-गाँव फैल गया था और वहाँ विदेशी वस्त्रों की होलियों का तूफान उठ गया था। शहर-शहर नहीं, गाँव-गाँव में विदेशी वस्त्र फूँके गए थे। स्वयंसेवक घर-घर घूमते, लोग खुशी-खुशी उन्हें अपने कपड़े देते और लपट होती जलती। इन होलियों में अंग्रेजी हुकूमत का प्रताप ही स्वाहा होने लगा, तो सरकार ने हुकम दिया कि विदेशी वस्त्रों की होली जिस ताल्लुकेदार या ज़मींदार के गाँव में होगी, उस पर मुकदमा चलाया जायेगा। इस हुकम से कांग्रेस और सामन्तों में युद्ध छिड़ गया। ताल्लुकेदारों-



जमींदारों के कारिन्दे और गुण्डे स्वयंसेवकों को जहाँ देखते, पीटते। स्वयंसेवकों ने लाठियाँ खाने और हड्डियाँ तुड़वाने पर भी उत्साह से काम में लगे रहने की शक्ति का अद्भुत परिचय दिया।

इस बलिदान ने जनता को और उभारा, वह और भी जोश से कांग्रेस के साथ आई और जुलूसों-जलसों की बाढ़ आ गई और सहजनवाँ एवं चोरी-चोरा को सत्याग्रह का केन्द्र बनाया गया। ताड़ी, शराब, गाँजा और विदेशी वस्त्र की दुकानों पर धरना लग गया। दो सौ स्वयंसेवकों के जत्थे रोज मैदान में उतरते और जमींदारों, ताल्लुकेदारों एवं पुलिस की भयानक पिटाई सहते। आत्मा की जागी हुई शक्ति ने उनके लिए लाठियों की मार को पुष्पवर्षा बना दिया। घोड़ों के रिसालों ने घोड़ों की टापों से स्वयंसेवकों को कुचलना आरम्भ किया। घायल तो सभी स्वयंसेवक हुये, पर बहुतों के तो अंग ही अंग हो गये।

4 जनवरी, 1922 को विदेशी वस्त्रों के बड़े बाजार चोरी-धोरा की पीठ में सत्याग्रह करने के लिये चार हजार स्वयंसेवक इकट्ठे हो गए। कई जत्थों में बँटकर जुलूस के रूप में वे चले। थाने के सामने से जब शान्त जुलूस जा रहा था, तो पुलिस बीच के हिस्से पर टूट पड़ी और लाठियों से माराभार मचा दी। बहुत वीरता से स्वयंसेवकों ने सहा और जो स्वयंसेवक थाने से आगे या पीछे थे, वे भी थाने के सामने आ गये। अब पुलिस गोलियाँ चलाने लगी। स्वयंसेवक शान से डटे रहे। निहत्थी छातियाँ गोली खातीं, नारे लगाती रहीं। बलिदान की, आत्माहुति की तेजस्विता का वातावरण था; अद्भुत दृश्य, अहिंसा की शक्ति का अनुपम प्रदर्शन !

स्वयंसेवकों का साहस नहीं चुका, पुलिस की गोलियाँ खत्म हो गईं। तब उन्होंने बन्दूक के कुन्दा से स्वयंसेवकों को मारना और संगीनों से उनके शरीरों को भोंकना शुरू किया। अब एक ऐतिहासिक दृश्य कि सिपाही हाथ उठाते और कुन्दे का वार करते, स्वयंसेवक की हड्डी टूट जाती या सिर फट जाता, पर वह पीछे न हटता और नारा गुंजाता। तभी सिपाही अपनी खाली बन्दूक को नीची करता और संगीन भोंक देता। खून बहने लगता और स्वयंसेवक गिर पड़ता। सिपाही दूसरे स्वयंसेवक पर कुन्दा धमका देता।

एक आवाज आई - "इस तरह हम कब तक मरते रहेंगे ?" यह आवाज कई कंठों से गुंज उठी। इसमें दीनता नहीं, आक्रोश था। द्वारका प्रसाद पाण्डेय के पैर में गोली लग चुकी थी, कुछ लोग, सामने ही शहीद हो चुके थे, कुछ लोग दम तोड़ रहे थे। कुछ ऐसे लोग, जिनके अंगों से खून बह रहा था, अब भी हिम्मत के साथ खड़े थे और कुछ गिर पड़े थे। पाण्डेय जी आक्रोश से भर उठे, उन्होंने लोगों को ललकारा। पुलिस वाले थाने में भाग गये और उन्होंने थाने के किवाड़ बन्द कर लिये। कोई मिट्टी के तेल का कनस्तर ले आया और उसने थाने में आग लगा दी। 21 सिपाही और एक थानेदार भीतर जल मरे। जब वे भीतर जल रहे थे, बाहर 26 शहीद और सैकड़ों घायल स्वयंसेवक पड़े थे।

दशरथ प्रसाद द्विवेदी ने उन 21 की तरफ देखा, उन 26 और उन सैकड़ों की



तरफ नहीं और गांधी जी को अधूरा तार दे दिया। इसी तार पर गांधी जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। इसके बाद पुलिस ने चोरीचोरा के तीन-चार भौल के क्षेत्र में गदर मचा दिया। फसलों को जलाया, घर-घर लूटा और स्त्रियों तक को नहीं बखशा। उद्‌ण्डता का यह हाल था कि जवाहर लाल जी आये, तो उन्हें अपमानित किया गया और देवदास गांधी आये तो उन्हें पीटा गया, उनकी टोपी उतार कर जूते से मसली गयी। बाद में एक साल तक मुकदमा चला, जिसमें 172 आदमियों को फाँसी और कुछ को दूसरी सजायें दी गईं, पर मालवीय जी महाराज के अपील करने पर 20 आदमियों को फाँसी, 14 को आजन्म कारावास और कई को दूसरी सजायें मिलीं। पाण्डेय जी को पहले फाँसी की सजा मिली थी, फिर आजन्म कारावास की हो गई। इस विवरण से स्पष्ट है कि पुलिस के अत्याचारों का फल था चोरीचोरा काण्ड, स्वयंसेवकों के यों ही भड़क उठने का फल नहीं।

बंगाल और महाराष्ट्र तो गांधी जी पर बरस पड़े। गांधी जी के बहुत से भक्त जगावत कर बैठे। कांग्रेस महासमिति की बैठक में गांधी जी के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव पेश किया गया। कई लोगों ने उस प्रस्ताव का समर्थन किया, पर गांधी जी ने किसी को भी उस प्रस्ताव के विरोध में नहीं बोलने दिया। निन्दा के प्रस्ताव पर जब मत लिये गये, तो उन पाँच-सात भाषणकर्त्ताओं के ही मत आये, बाकी सब गांधी जी के साथ रहे।

उत्तर प्रदेश ने अपनी शालीनता और गरिमा नहीं खोई। असहयोग आन्दोलन उत्तर प्रदेश की ही एक घटना के कारण वापस लिया गया था और पंडित मोतीलाल नेहरू ने जेल से ही गांधी जी को अपने खत में बहुत भला-बुरा कहा था। यह दो मित्रों का आपसी व्यवहार था, पर जेल से छूटने पर इलाहाबाद की एक सभा में गांधी जी द्वारा मीर्चा बदलने का समर्थन करते हुए मोतीलाल जी ने कहा—“आन्दोलन खत्म नहीं किया गया, स्थगित किया गया है। हवा का रुख बदलने के कारण हमें अपने पालों का रुख भी बदलना पड़ सकता है। सागने की चट्टानों और खतरों से बचने के लिए हमें अपने रास्तों में भी कुछ तबदीली करनी पड़ सकती है। यहाँ तक की कोहरे के घिर आने पर हमें उस समय तक लंगर भी डाले रखना पड़ सकता है, जब तक कि धुन्ध थोड़ी साफ न हो जाये, लेकिन इस बात का कोई सवाल ही नहीं उठता कि हम अपनी मंजिल को बदल दें या उस मंजिल तक पहुँचने के लिए हमने जिस उम्दा जहाज को अपनाया है, उसे ही छोड़ दें।”

आन्दोलन की उत्तर प्रदेश में क्या स्थिति थी और उसने जनजीवन को किस सीमा तक प्रभावित किया था? यह जानना हो तो बस इतना ही जानना काफी है कि नेताओं के जेल में होते हुए भी जब प्रिन्स आफ वेल्स इलाहाबाद विश्वविद्यालय में आये, तो अधिकांश विद्यार्थी अनुपस्थित थे और जो थोड़े से उपस्थित थे, उन्हें शाम को भूँखे रहना पड़ा; क्योंकि छात्रावास के नीकरो ने उन्हें खाना परोसने से इन्कार कर दिया था।



## 9 : भयमुक्ति का पावन पर्व

हिन्दुस्तान गुलाम तो था ही, पर जिन बातों से जनता को गुलामी का तीखापन ज्यादा से ज्यादा चुभता था, उनमें वेगार की प्रथा सबसे ऊपर थी। यह पूरे उत्तर प्रदेश में जारी थी। असल में यह उस पुरानी दास प्रथा का ही एक अंश था, जिसमें मनुष्य भी पशुओं की तरह खुले आम बिका करते थे। अंग्रेजों के आने के समय उत्तर प्रदेश के हरद्वार क्षेत्र में खास हर की पेंडी पर दासों की मंडी लगती थी और दासों की खरीद-विक्री हुआ करती थी। अंग्रेजों ने दास प्रथा बन्द करा दी, पर वेगार प्रथा के रूप में उसका एक अंश अपना आतंक जनता पर बनाये रखने के लिए बचा लिया। 1920-21 में जब गांधी जी का खिलाफत-असहयोग आन्दोलन देश में आँधी की तरह उठा, तो उत्तर प्रदेश में वेगार का आतंक भूत की तरह छाया हुआ था।

इस भूत पर दो चोटें पूरे जोर से पड़ीं। पहली कुमायूँ में, दूसरी मोहनू में। पहले हम वेगार के भूत को पहचान ले और फिर उसके लड़खड़ा कर गिर पड़ने की कहानी सुनें। सरकारी अफसर जिले के मुख्य नगर से निकलकर तहसीली कस्बों, और देहातों में जाया करते थे। इन दौरों का घोषित उद्देश्य तो यही था कि अफसर जनता के सीधे सम्पर्क में आये, पर कूटनैतिक उद्देश्य था जनता को दबाना-पीसना, जिससे वह अपनी गुलामी के विरुद्ध आवाज उठाने की हिम्मत न करे, आत्महीन होकर रहे।

इस नाटक का पहला दृश्य होता था, मजदूरों-घसियारों का पकड़ना। ये बिना मजदूरी दिये चोरों की तरह पकड़ लिए जाते, उन बागों या मैदानों को साफ करते, अफसर के घोड़े के लिए घास काट कर लाते। कोई पकड़े जाते समय अपने घेरे की बीमारी की खबर डाक्टर को देने जा रहा था या घर वालों के लिए राशन का इन्तजाम करने जा रहा था या वेटा-वेटी की सगाई के प्रबन्ध में जा रहा था, इससे तहसील के चपरासियों को कोई मतलब न था। इस दृश्य का नेपथ्य संक्षेप यह होता कि दस आदमियों की जबरत होती, पच्चीस पकड़ लिए जाते और दक्षिणा लेकर पन्द्रह को छोड़ दिया जाता। डेरे पर सेवा करने के लिए भी बहुत से आदमी पकड़े जाते और बिना उनकी हैसियत देखें उनसे काम लिया जाता। इन पर गालियाँ तो पड़ती ही, अक्सर मार-पीट भी होती। ये बुरी हालत में लोटते।



दूसरा दृश्य बहुत रोमांचक होता। तहसील के चपरासी अपनी साफ बर्दी पहन कर और चमकती चपरास लगाकर लाठियाँ लिए सड़कों पर आ जाते और आती-जाती बैलगाड़ियाँ अफसर का सम्मान देने के लिये पकड़ लेते। यदि किसी गाड़ी में कोई सामान होता, तो वह वहीं सड़क के किनारे पटक दिया जाता और उसकी सुरक्षा की कोई जिम्मेदारी न ली जाती। यह दृश्य तब बहुत कष्ट हो जाता, जब किसी रेहड़ू (बैल तांगा) में कोई धुवक अपनी गौनावाली दुलहन को ला रहा होता और चार पांच चपरासी एक साथ उस पर टूट पड़ते। दुलहन और दूल्हे को नीचे घसीट लिया जाता, उसका सामान पटक दिया जाता और गाड़ी एक तरफ खड़ी कर दी जाती। वह खुशामद करता, अच्छी रकम देता तो गाड़ी वापस की जाती, वह रकम न देता या अकड़ता, तो सड़क पर खड़ा रह जाता। जब दो तीन दिन बाद उसका रेहड़ू (बैल तांगा) लौटता तो बैल खूराक ठीक न मिलने के कारण अधमरे होते, रेहड़ू की पालिश और सजावट अस्त-व्यस्त होती। उसके समय पर घर न पहुँचने के कारण घर वालों को और बेचूर होकर उन दोनों को जो परेशानी होती, वह हमेशा के लिए उनके दिल पर चपरास का आतंक बिठा देती।

बेगार का तीसरा दृश्य यह होता कि गांवों से 'साहब' के लिए घी, दूध-अण्डे-मांस—इतनी ज्यादा तादाद में लिये जाते कि लूट मच जाती, सभी मौज उड़ाते—फिर भी एक दुकान डेरे पर खुलवाई जाती, जिससे बाजार रेट पर नहीं अपने रेट पर सामान लिया जाता।

कुमायू-अलमोड़ा में इस प्रथा का रूप और भी घिनौना था। वहाँ पहाड़ों पर गाड़ियाँ तो चंलती न थी। वहाँ डेरे के सामान की दुलाई आदमियों के सिरों पर ही होती थी। हरेक ग्राम प्रधान के पास एक रजिस्टर होता था। उसमें गाँव के सब रहने वालों के नाम होते थे, उसके अनुसार प्रधान सबको दबाव में रखता था, क्योंकि बेगार में किसी को भेजना उसी के हाथ था। इन्कार करने पर दुर्गति होती थी। ऐसे आदमी के सिर पर साहब का कम्बोड या जूतों की बोरी रख दी जाती थी। रास्तों के कारण एक बार पकड़े जाने पर आठ दस दिन लग जाना मामूली बात थी। पन्द्रह बीस दिन भी लग जाते थे तो कौन सुनता था। जात या सामाजिक स्थिति का भी ध्यान न रखा जाता था।

असहयोग-खिलाफत की हवा चली तो गांधी जी और दूसरे नेताओं की वाणी देशभर में गूँजी। भय का भूत उतरा तो साहस का सपूत उभरा। वीर नेता श्री बट्टी दत्त पाण्डेय ने इस प्रथा को समाप्त करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने कुमायू परिषद की तरफ से गाँव-गाँव प्रचार किया कि मकर संक्रान्ति के त्यौहार पर बेगार की प्रथा समाप्त की जा रही है। जो लोग उस दिन अपने गांवों के रजिस्टर लेकर बागेश्वर के मेले में आयेंगे और उन रजिस्ट्रो को सरयू नदी की पवित्र धारा में बहायेंगे, वे उसी दिन से बेगार से मुक्त हो जायेंगे। यह प्रचार छिपा नहीं था, डोंडी पीटकर किया गया था। सरकार और उसके गुणों ने लोगों को डराने की कोशिशें की और जाल फैलाये, पर लोगों में विश्वास और संकल्प जाग उठे थे। वे टोलियाँ बनाकर गांवों से चले और ठीक दिन ठीक समय बागेश्वर जा पहुँचे। अंग्रेज कमिश्नर भी सशस्त्र पुलिस के साथ बागेश्वर में ही पहुँचा था।



वह दृश्य संसार के जन-आन्दोलनों के इतिहास का एक अनुपम दृश्य था। सरयू के एक किनारे पर कोई चालीस हजार आदमी, जिनके चेहरे नये जीवन के तेज से प्रदीप्त थे, रजिस्ट्रों को हाथ में झण्डों की तरह ऊँचा उठाये खड़े थे और महात्मा गांधी की जय बोल रहे थे। दूसरे किनारे पर अंग्रेज कमिश्नर ने आतंक के भूत को साँस देने की अन्तिम कोशिश की और सिपाहियों को निशाना साधने का हुक्म दिया। अब सरयू के एक तट पर मौत थी, दूसरे पर जिन्दगी। दोनों में धर्म साहस का मैच था और बीच में सरयू अपनी लहरों के रूप में हिलोर लेकर एक चंचल रैफ़ी की तरह दोनों का निरीक्षण कर रही थी।

एक तेज-गरजती आवाज से सारा वातावरण लरज उठा। यह कूर्माचल केशरी श्री बन्नी दत्त पाण्डेय की आवाज थी। वे ललकार रहे थे—“कमिश्नर साहब, कितनी गोलियाँ चलाओगे तुम? चलाओ, पर यह समझ लो कि जनता की चट्टान उनसे नहीं टूटेगी। तुम्हारी गोलियाँ खत्म हो जायेंगी और तुम असहाय होकर खड़े रह जाओगे। कमिश्नर साहब, कितनी गोलियाँ हैं तुम्हारे पास; यहाँ चालीस हजार बहादुर लोग हैं, ये सब लाशों का ढेर हो जायेंगे, पर इनमें एक भी आदमी पीछे नहीं हटेगा।”

इतने जोर से नारों की ध्वनि उठी और उसे वातावरण ने प्रतिध्वनित कर इस तरह गुंजाया कि संगीनों झुक गयीं, सिपाही पीछे हट गये, कमिश्नर तम्बू में चला गया और तभी बज उठे शंख और नरसिंघे। यह एक संकेत था। हाथों में उठे रजिस्टर सरयू में फेंके जाने लगे—छप्प, छपाछप, छप्प। बेगार की प्रथा आप ही आप उन रजिस्ट्रों के साथ बह गई।

मोहण्ड, सहारनपुर और देहरादून के बीच एक वनप्रदेश है, सहारनपुर जिले का अन्तिम स्थान। फरवरी, 1921 में खबर मिली कि वायसराय शिकार के लिए मोहण्ड आने वाले हैं, जिले के अफसरों के दौरों पर ही क्रूर बेगार होती थी, फिर ये तो वायसराय हैं। जमींदार लोग ऐसे मौकों को वरदान समझते थे, क्योंकि खुरामद और सेवा से वायसराय की निगाहों में चढ़ जायें तो राज्यबहादुरी पक्की हो जाती थी। पटवारी और नायब तहसीलदार ऐसे मौकों पर देहातियों के लिए सबसे बड़े अफसर हो जाते थे। जिसने कभी हुक्म न माना हो या इस समय हुक्म मानने से इन्कार करे, तो उसे दोरे के नाम पर पकड़वा मंगाते थे, पेड़ से बाँध देते थे और खूब पिटवाते थे। जनता खूब नादिरशाही लूट का शिकार होती थी, पर यह तो 1921 था। जनता में असहयोग की जागृति थी। लोग वर्षों तक जुलम सहने के बाद खड़े हो गए थे।

हकीम पन्ना लाल ने सोचा—बेगार पर चोट करने का यही मौका है; क्योंकि वायसराय के आने से हफ्तों पहले अफसरों की भीड़ मोहण्ड में जुड़ेगी और सामान और काम के लिये बेगार की घूम मचेगी। उन्होंने कांग्रेस कमेटी को चेताया और प्रचार आरम्भ कर दिया। बाबू झूमन लाल और बाबू मेला राम उनके खास साथी थे। जिले का अंग्रेज कलक्टर शिकार के लिए मोहण्ड आता ही रहता था। इसलिए लोगों को मालूम था कि वायसराय के



Digitized by Anva Samaj Foundation, Chennai and eGangotri  
 आने पर क्या होगा ? प्रचार सफल हुआ और लोगों ने बेगार देने से अफसरो और जमींदारों को साफ इन्कार कर दिया । पुराने हथियार आजमाये गए, गालियां दी गईं, धौंस जमाई गई, मारपीट भी हुई, पर एक ही तो कुछ काम चले, यहाँ तो सारा इलाका ही बागी हो गया था ।

आखिर अफसरों से कहा गया । नायब तहसीलदार जमींदारों के कारिन्दों के साथ गाँव-गाँव गये और वह सीन देखा जो उन्होंने कल्पना न की थी । गाँव के गाँव टुकड़े होकर जवाब देते थे कि हमें फुरसत नहीं है, हमारी खेती कटने वाली है । जमींदारों ने बिजनौर जिले से मजदूर बुलाये, पर यहाँ की हालत देखकर वे भी खिसक गए । जब कोई रास्ता न रहा तो लारियों में भरकर शहर से रेल के कुली बुलाये गए और जैसे-तैसे काम चला, पर खेड़ी गाँव वालों ने जमींदार साहब का सामाजिक बहिष्कार कर दिया कि उन्होंने वायसराय के शिकार में क्यों सहयोग दिया । इस पूरी घटना को एक जमींदार के कारिन्दे अब्दुल गनी ने नज्म में बाँध दिया था, जो बरसों घर-घर गाई गई और लोगों को बढ़ावा देती रही ।

उस नज्म की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

यानि गाय भैंस लाओ ताजी ब्याई देख कर  
 दूध पीने के लिए, खाने को रबड़ी लच्छेदार  
 झोटे लाओ बाँधने को और खेदे के लिए  
 तीन सौ या चार सौ लाओ कुली, भंगी, चमार  
 भेजें कारिन्दे जमींदारों ने अपने गांवों में  
 देखते क्या हैं कि बिगड़े हुए सब काश्तकार  
 बच्चे-बच्चे की जुबाँ से सुनी गांधी जी की जय  
 मिल गया स्वराज गोया, हो गए मुक्तारकार  
 मौलवी साहब से एक चपरासी ने आंकर कहा  
 भेजिये दो एक बढ़ई जो काम में हों होशियार  
 जब कहा तज्जार से—मोहण्ड चल कुछ काम है  
 तैश में आकर लगा कहने बचसमे अशकवार  
 मैं न जाऊँगा, जबर्दस्ती अगर भेजोगे तुम,  
 बस अभी मर जाऊँगा, सर में बसीला अपने मार  
 मिल के दो चपरासी 'बंजारे वाले' में गए,  
 मीर साहब से कहा—दो हमको भंगी तीन चार  
 मीर साहब ने बमुश्किल पकड़े दो भंगी, मगर  
 पड़ गए दोनों के दोनों डेरे में पांवों पसार



गाँव से हमको उजाड़ों, चाहे डालो जाँ से मार।”

हमने समझाया कि देखो काम है सरकार का,  
तौवा, तौवा, कौन माने, किसकी सुनते हैं गँवार।

इस घटना का पूरे पश्चिमी उत्तर प्रदेश पर असर पड़ा, क्योंकि इसका सम्बन्ध सीधे  
बायसराय से था। जगह-जगह वेगार से लोगों ने टक्कर लीं और वेगार की प्रथा ही वन्द हो  
गई। इस आन्दोलन की सबसे बड़ी बात यह थी कि दबे हुए लोग उभरे और भय से मुक्त  
हुए।



## 10 : कदम पुराने-राह नई

असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया गया था और 13 मार्च, 1922 को गांधी जी गिरफ्तार कर लिये गए थे। उन्हें छः माल की सजा दी गयी थी और वे यरवदा जेल में बन्दी थे। सारा राजनैतिक वातावरण गतिरोध में डूब गया था। असहयोग की पुरानी राह बन्द कर दी गयी थी, और नई राह किसी की कल्पना में भी नहीं थी, तो कदम कहाँ पड़ते; वायसराय लार्ड रीडिंग ने अपने पुत्र को सूचित किया कि "असहयोग आन्दोलन और उसके नेताओं की जनता में प्रतिष्ठा कम होने का कारण यह है कि बारडोली में (असहयोग को वापस लेने के) जो प्रस्ताव पास हुए, उनके कारण कोई सुनिश्चित और समझ में आने लायक उद्देश्य ही बाकी नहीं बचा। उसी क्षण विघटन और असंगठन शुरू हो गया, सारा उत्साह नष्ट हो गया और पार्टी के अनुयाइयों में निराशा तथा क्षोभ छा गया।"

निराशा, क्षोभ, विघटन और असंगठन के इस घने अन्धकार में जहाँ आशा, प्रगति और उद्यम की पहली किरण फूटी, वह उत्तर प्रदेश की ही भूमि थी। 7, 8, 9 जून 1922 को लखनऊ में कांग्रेस महासमिति की बैठक हुई। उसका काम था—"असहयोग, सत्याग्रह और सविनयभंग के सिद्धान्त का फिर से मूल्यांकन करना" पर मोतीलाल नेहरू और उनके साथियों के इन शब्दों में—"हम ऐसा असहयोग चाहते हैं जिनका प्रवेश खास नौकरशाही के गढ़ में हो सके" यह कौंसिल प्रवेश की भूमिका थी। इस पर विचार अगली बैठक के लिए स्थगित कर दिया गया और एक कमिटी बनाई गई, जो देश में घूमकर अपनी राय बताये। इसमें मोतीलाल नेहरू, डा० अन्सारी, पटेल, राजाजी आदि थे। देश के नेता साफ-साफ दो हिस्सों में बंट गए थे। पुरानी नीति में कोई परिवर्तन न करने का नेतृत्व राजगोपालाचार्य, डा० राजेन्द्र प्रसाद और बल्लभ भाई पटेल आदि के हाथों में था तो कौंसिलों में प्रवेश करके सरकारी गढ़ को अस्त-व्यस्त करने की आकांक्षा रखने वालों का नेतृत्व पंडित मोतीलाल नेहरू, चितरंजन दास और बिट्टलभाई पटेल आदि के हाथों में था।

गया के कांग्रेस अधिवेशन में दोनों पक्षों की टक्कर हुई। सभापति चितरंजन दास थे। कौंसिल प्रवेश के पक्ष में 890 मत आये और विरोध में 1740। इस हार के बाद वहीं मोतीलाल जी की व्यवस्था में कांग्रेस-खिलाफत-स्वराज पार्टी की स्थापना हुई, जो बाद में वस



स्वराज पार्टी ही रह गयी। दास उसके सभापति और नेहरू मन्त्री चुने गए। बंगाल कौंसिल की देखरेख का काम दास को सौंपा गया और देश में पार्टी को संगठित करने का काम मोती लाल जी को। दास ने बाद में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्याग पत्र दे दिया और अपनी शक्ति बंगाल पर लगाई। उत्तर प्रदेश में खूब काम हुआ और पार्टी जमने लगी।

तब सितम्बर, 1923 में दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। मोलाना अबुल कलाम आजाद सभापति थे। इसमें दोनों पक्षों के बीच यह फैसला हुआ कि असहयोग के सिद्धान्त की पुष्टि की गई, पर जो अनुचित न समझते हों, उन्हें चुनावों में हिस्सा लेने की स्वीकृति दी गई। लगभग तीन महीने बाद कोकोनाडा कांग्रेस ने इस समझौते की पुष्टि की। यह मोतीलाल नेहरू के समयपारखी व्यक्तित्व की विजय थी, पर वह विजय अधूरी थी, क्योंकि नवम्बर, 1923 में ही चुनाव होने थे और जय-पराजय का निर्णय उनके परिणामों पर निर्भर था।

पंडित मोतीलाल जी ने अपनी संगठनशक्ति का अद्भुत परिचय दिया। इसका पता इस बात से लगता है कि उन्होंने श्री जमनालाल बजाज को एक पत्र में लिखा कि वे उत्तर प्रदेश आकर मारवाड़ी वोटरों को प्रभावित करें और जमनालाल जी ने यह कार्य अपने ढंग पर किया। कांग्रेस की स्वीकृति और आपसी रस्साकशी में बहुत समय लग गया और पंडित मोतीलाल नेहरू और उनकी मशीनरी को कुल समय कुछ सप्ताहों का ही मिला, फिर भी केन्द्रीय विधान सभा (सेंट्रल असेम्बली) के कुल निर्वाचित 101 स्थानों में से 45 स्थान स्वराज पार्टी को मिले। मध्य प्रान्त की कौंसिल में उसे पूर्ण बहुमत मिला। बंगाल में वह सबसे बड़ी पार्टी थी। उत्तर प्रदेश सामन्तवाद का मजबूत अखाड़ा था, फिर भी यू० पी० कौंसिल में वही दूसरी सबसे बड़ी पार्टी रही और असम में भी।

पंडित मोतीलाल नेहरू केन्द्रीय असेम्बली में विरोधी दल के नेता चुने गए। उन्होंने राष्ट्रीय दल का सहयोग पाकर बहुमत बना लिया। विधान शास्त्री बिट्ठलभाई पटेल असेम्बली के प्रेसिडेंट चुने गए। इससे असेम्बली पार्लियामेंट सी लगने लगी। श्री टी० रंगाचारी ने शासन व्यवस्था में परिवर्तन करने का प्रस्ताव पेश किया। मोतीलाल जी ने संशोधन पेश किया कि पूर्ण उत्तरदायी सरकार की सिफारिश करने के लिए एक गोलमेज परिषद बुलाई जाये। इस पर मतगणना में सरकार हार गई। यह उसकी पहली हार थी। फिर तो कई बार वह हारी, पर जब असेम्बली ने बजट की कई मांगें नामंजूर कर दीं, तब तो देश के शिथिल वातावरण में एक राजनैतिक तरन्नुम ही पैदा हो गया। कदम पुराने थे, पर राह नई थी। खास बात यह हुई कि गांधी जी ने जेल से छूट कर इस राह चलने वालों को कई अच्छी सलाहें दी और समर्थन दिया।

इन वर्षों की एक बात कहनी रह गयी। नागपुर की पुलिस ने 1 मई, 1923 को दफा 144 लगाकर सिविल लाइन्स में झण्डा लेकर जुलूस निकालने की मनाही कर दी। इस पर झण्डा सत्याग्रह आरम्भ हो गया। कांग्रेस ने इसे अपने हाथों में ले लिया और इस तरह



यह देशव्यापी आन्दोलन हो गया। उत्तर प्रदेश ने भी इसमें दिलचस्पी ली और अपने कार्यकर्ता भेजे।

1925 (उन्नीस सौ पच्चीस) में कानपुर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। श्रीमती सरोजिनी नायडू सभापति थी। गांधी जी ने अपने 5 मिनट के भाषण में अपनी नीतियों में आस्था प्रकट की और कहा—“यदि मुझे विश्वास हो जाये कि लोगों में जोश और उत्साह है, तो मैं आज सत्याग्रह आरम्भ कर दूँ, पर अफसोस, हालत ऐसी नहीं है।” श्री श्यामलाल गुप्त पार्षद लिखित झण्डागान देश के राष्ट्रीय वातावरण को इस अधिवेशन का स्मरणीय उपहार था। यह अधिवेशन खादी के बने पंडाल में किया गया था। यह विशाल पंडाल कानपुर स्वागत समिति ने ही तैयार कराया था। अनेक वर्षों तक यह रेल से वहाँ-वहाँ भेजा जाता रहा, जहाँ-जहाँ अधिवेशन होता था। बाद में यह फट गया और नया बनाना अलाभप्रद माना गया, क्योंकि इसे रेल से भेजने में बहुत खर्च होता था।

• • •



## II : खूनी फाग खेलने वाले

9 अगस्त हमारे देश के इतिहास में भारत छोड़ो क्रान्ति का जन्मदिन होने के कारण 1942 के बाद विख्यात हुआ, पर उत्तर प्रदेश के सशस्त्र क्रान्तिकारियों ने बहुत पहले ही इस दिन को राष्ट्रीय दिन बना दिया। उन्होंने 9 अगस्त, 1925 को काकोरी स्टेशन के पास रेलगाड़ी को रोक कर सरकारी खजाना लूट लिया। दस क्रान्तिकारी दो हिस्सों में बँट कर शाहजहाँपुर से रेल में बैठे। काकोरी से गाड़ी चलने के कुछ देर बाद जंजीर खींच कर गाड़ी रोक दी गई। गाड़ी रुकते ही वे नीचे उतरे। गाड़ भी उतरा। उसे पिस्तौल दिखा कर जमीन पर आँधे मुंह लिटा दिया गया और दो आदमी गाड़ी के इधर और दूसरी तरफ खड़े होकर एक विशेष गति से गोलियाँ चलाने लगे। जोर-जोर से चिल्लाकर कह दिया गया कि जो मुसाफिर नीचे उतरेगा, गोली का शिकार होगा और जो अपनी जगह बैठा रहेगा, सुरक्षित रहेगा।

दरवाजा खोल कर खजाने का वक्सा नीचे धकेल दिया गया। घन-छैनियों से उसे तोड़ा गया और बलियाँ निकाल कर क्रान्तिकारी अपनी राह लगे। इसी गाड़ी में कई गोरे फौजी भी सफर कर रहे थे, एक तो मेजर था उनमें, पर कोई राइफल तो क्या छूता, किसी ने बाहर को झाँका भी नहीं—हां, खिड़कियाँ उन्होंने अवश्य बन्द कर लीं। ठीक ही है, अंग्रेजों ने ताकत से न हिन्दुस्तान को जीता था, न हिन्दुस्तान पर हुकूमत कर रहे थे, छल से उसे जीता था, कंपट से हुकूमत कर रहे थे। योजना की प्रशंसा में फूल बरसाने चाहिए कि यह सब काम दस मिनट में पूरा हो गया।

26 सितम्बर, 1925 को गिरफ्तारियाँ हुईं, मुकदमा चला और 6 अप्रैल (जलियाँ वाला बाग-दिवस) 1927 को स्पेशल अदालत ने फैसला सुना दिया। अशफाक उल्ला खाँ और शचीन्द्र नाथ बख्शी बाद में पकड़े गए और उन पर अलग मुकदमा चला। चन्द्रशेखर आजाद गिरफ्तार ही नहीं हुए। राम प्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्र लाहिड़ी, अशफाक उल्ला खाँ और रोशनसिंह को फाँसी, शचीन्द्र नाथ सान्याल, योगेश चन्द्र चटर्जी, मुकुन्दी लाल, गोविन्द चरण कर, राजकुमार सिंह, राम कृष्ण खत्री को और शचीन्द्र नाथ बख्शी को काला पानी; मन्मथ नाथ गुप्त को चौदह साल, विष्णू शरण दुबलिश और सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य को दस-



दस साल; भूपेन्द्र नाथ सान्याल, राम दुलारे त्रिवेदी और प्रेमकृष्ण खन्ना को पाँच-पाँच साल और प्रणवेश चटर्जी को चार साल कैद की सजा हुई। बनवारी लाल इकवाली गवाह बन गया था, उसे भी पाँच साल कैद की सजा हुई। काकोरी केस का उत्तर प्रदेश के राष्ट्रीय जीवन में यह महत्व है कि 1922 में असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद, जो साम्प्रदायिक दंगों का तूफान उठा, उसमें काकोरी काण्ड ही एकमात्र राजनैतिक विस्फोट है, जिसने जनता का ध्यान साम्प्रदायिकता से हटा कर फिर राजनैतिक प्रश्न—देश की गुलामी—की तरफ खींचा। एक बात और, इस केस में राम प्रसाद बिस्मिल, अण्णाकउल्ला खाँ और रोशन सिंह जैसे उद्भट वीर सामने आये, जिन्होंने देश की नई पीढ़ी को देशभक्ति की ताजी प्रेरणा दी।

उत्तर प्रदेश में सशस्त्र क्रान्ति के लिए जो संघर्ष हुए, उनका इतिहास बहुत पुराना है, महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब, दिल्ली में सशस्त्र क्रान्ति-संघर्ष की स्वतन्त्र शाखाओं का जन्म हुआ तो उत्तर प्रदेश भी इसमें पीछे नहीं रहा, यहाँ भी उसकी एक स्वतन्त्र शाखा को जन्म देने का सौभाग्य मिला।

उन्नीसवीं सदी में कुछ बंगाली परिवार सहारनपुर में रोजगार-धन्धे के लिए आ बसे और यहीं के नागरिक हो गए। इन्हीं में थे जतीन्द्र मोहन चटर्जी। इनके पिता सहारनपुर में वकालत करते थे। इन्होंने नगर की ढमोला नदी पर संध्या के समय खड़े हो अपने साथी द्वारकानाथ और हरद्वारी सिंह के साथ अपना जीवन क्रान्ति के लिए समर्पित करने की शपथ ली। चटर्जी ने स्वयं लिखा—“लोकमान्य तिलक और श्री अरविन्द बहुत देर तक मानव समस्याओं का गहन अध्ययन करने के बाद क्रान्तिकारी बने थे। यद्यपि काल भगवान का इसके निर्णय में बड़ा हाथ रहा होगा, परन्तु हम क्षुद्र जीवों को तो काल ने ही स्फूर्ति दी।” लाला हरदयाल के सम्पर्क ने इस स्फूर्ति को निश्चय ही गहराई दी, पर चटर्जी विचार नहीं, कर्म चाहते थे।

सरदार अजीतसिंह ने पंजाब में भारत माता सोसाइटी कायम करके 1907 में एक नया आन्दोलन शुरू किया। अंग्रेजी सरकार के अन्याय से वहाँ के किसान पीड़ित थे। उन्हें अपने साथ ले, सरदार जी ने हिंदुस्तान के पहले किसान आंदोलन को जन्म दिया। चटर्जी घर से भागकर अजीतसिंह से जा मिले। यहाँ उनकी उत्तेजित आत्मा को पूरी खुराक मिली। सूफी अम्बा प्रसाद भी यहीं थे। जब लाला हरदयाल, सरदार अजीतसिंह और सूफी अम्बा प्रसाद विदेश चले गये तो जतीन्द्र मोहन चटर्जी पंजाब कार्य के संचालक बनाये गए। चटर्जी कुछ दिन पुलिस की निगाहों से बचने और आर्थिक समस्याओं का समाधान करने के लिए सव्यासी वेश में रहे और नीलाम्बर दावा कहलाये। बाद में सव्यासी वेश उन्होंने छोड़ दिया और जब हिन्दुस्तान में रहना असम्भव हो गया तो वे बैरिस्टरी पास करने को विलायत चले गए। रास बिहारी बोस का सम्पर्क पंजाब से हो गया था। चटर्जी वहाँ का काम उन्हें सौंप गए। दिल्ली में वायसरॉय हाउस पर रास बिहारी ने बम फेंका और फरार रहे। चटर्जी तब विलायत से लौट आये थे। रास बिहारी कुछ दिन चटर्जी के पास सहारनपुर रहे और यही से जापान के लिए विदा हुए। चटर्जी के कारण ही सरदार अजीतसिंह और सूफी अम्बा प्रसाद भी सहारनपुर आये थे। खास



बात यह कि चटर्जी व्यक्तिगत हत्याओं के विरोधी थे। सहारनपुर में अपना हेड क्वार्टर रखते हुए उन्होंने पंजाब में भंगियों, बड़इयों, चमारों, धोबियों, लुहारों का संगठन किया था। उनकी कार्यनीति पुलिस और सेना के शस्त्रागारों पर आक्रमण करने और हड़तालों द्वारा नागरिक जीवन को अस्त-व्यस्त करने की थी। वे बंगाल और पंजाब के बीच की कड़ी थे। 1971 में उनका देहान्त देहरादून में हुआ।

सूफी अम्बा प्रसाद की चर्चा भी यहीं उचित होगी। उनका जन्म 1858 में मुरादाबाद में हुआ था। जन्म से ही वे एक हाथ के थे, पर उससे वे कलम भी चलाते थे और पिस्तौल भी। 1890 में उन्होंने 'जाम-ए-उल-उलूम' उर्दू साप्ताहिक निकाला। 1897 में राजद्रोहात्मक लेखों के लिए उन्हें डेढ़ साल की सजा मिली। कलकत्तों, रेजीडेंटों और गवर्नर के घर की खबर उड़ा लाना उनके बायें हाथ का काम था। इससे वे बड़े धड़ाके करते थे। इस पर उन्हें लम्बी सजा दी गई। 1906 में छूट कर वे सरदार अजीतसिंह से जा मिले और भारतमाता सोसाइटी आन्दोलन के प्राण बन गए। बाद में वे ईरान चले गए और वहीं उन्होंने स्वेच्छा मृत्यु प्राप्त की। वहीं उनकी कब्र पर अब भी हर साल उस होता है और आका सूफी को लोग आदर से याद करते हैं। देश के क्रान्तिकारियों की भीड़ में जो थोड़े से लोग अपनी खूबियों के कारण सबसे अलग हैं, बेजोड़ हैं, उनमें सूफी अम्बा प्रसाद भी अग्रणी हैं। जोनपुर के मुस्तफा साहब (वर्मा षड्यन्त्र केस) जीवित शहीद ही थे और मथुरा के राजा महेन्द्र प्रताप एवं झांसी वाले परमानन्द जी तो सशस्त्र क्रान्ति का जीवित इतिहास ही हैं। उत्तर प्रदेश के जीवित क्रान्तिकारियों में ठाकुर मुकुन्द सिंह का नाम भी उल्लेखनीय है। वे कांग्रेस आन्दोलनों में जेल गए और इस तरह पुलिस के संदेह से बचे।

उत्तर प्रदेश को ही यह भी सौभाग्य प्राप्त है कि उसने शहीदों के महान शहीद कवि ओम प्रकाश को जन्म दिया, पर आश्चर्य है कि उन्हें भुला कर हमारी पत्रकारिता ने और क्रान्तिकारियों ने भूलने के सभी रिकार्ड तोड़ दिए। ओम प्रकाश का जन्म सहारनपुर जिले के अम्बहटा कस्बे में हुआ था। वे छोटी उम्र से ही आर्यसमाज के सम्पर्क में रहे, लाहौर के डी०ए०बी० हाई स्कूल में पढ़ते समय ही कवितायें लिखने लगे थे। वहाँ से वे आगरा चले गए। तब वे पूरी तरह क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में थे। उनके कारण अनेक बार कालेज के छात्रावासों की तलाशियाँ हुईं तो उन्हें बँरिस्टरी पास करने के लिए विलायत भेज दिया गया। वहाँ बार-एट-ला की परीक्षा पास कर जब 1915-16 में (पहले विश्वयुद्ध के दौरान) हिन्दुस्तान लौटने वाले थे, (पानी के जहाज में उनकी सीट सुरक्षित हो गयी थी) उन्हें विष दे दिया गया और इस प्रकार शहीदों का कवि शहीद हो गया। उनकी कुछ कवितायें शहीद बिस्मिल के नाम से विख्यात हो गई, कुछ अज्ञात रूप में ही गाई गईं। "सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है" और "शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले" उन्हीं की कृतियाँ हैं। अंजमान जाने वाले क्रान्तिकारियों की आत्मा का संगीत उन्होंने ही—“हैफ, जिस पर कि हम तैयार थे मर जाने को, यक-ब-यक हमसे छुड़ाया ज़सी काशाने को” अपने इस मुसद्दस में बाँधकर अमर किया था।



उत्तर प्रदेश शचीन्द्र नाथ सान्याल और रास बिहारी बोस का भी कर्मक्षेत्र रहा। 'रिवोल्यूशनरी' शीर्षक का जो क्रान्तिकारी पत्रा एक साथ सारे देश में बाँटा गया, उसे शचीन्द्र नाथ सान्याल ने ही लिखा था। बनारस का क्रान्तिकारी केन्द्र बंगाल-बिहार-मध्यप्रान्त और पंजाब तक को शक्ति देता रहा और इलाहाबाद केन्द्र को सेठ दामोदर स्वरूप प्राणशक्ति देने वाले थे और काकोरी केस में वे गिरफ्तार हुए, पर बीमारी बढ़ जाने से छोड़ दिए गए। बनारस षड्यन्त्र केस और मैनपुरी षड्यन्त्र केस यहीं चले और मेरठ षड्यन्त्र केस तो बहुत ही प्रसिद्ध हुआ।

देवबन्द का मदरसा दाखल, उलूम मुस्लिम क्रान्तिकारियों का मूल केन्द्र रहा। इस केन्द्र का इतिहास बहुत पुराना और बहुत विस्तृत है, पर यहाँ इतना संकेत काफी है कि मी० महमूद उल हसन और उनके शिष्य ओबेदुल्ला सिन्धी ने अंग्रेजी राज्य को उखाड़ने के लिए एक पूरी क्रान्ति की योजना बनाई थी। इस क्रान्ति का नाम 'रेशमी पत्तों का षड्यन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है और पहले विश्वयुद्ध में राजा महेन्द्र प्रताप की अध्यक्षता में जो आजाद हिन्द सरकार काबुल में कायम हुई थी, ये ही उसके बानी-मुबानी थे। बाद में कांग्रेस आन्दोलन के एक स्तम्भ मौलाना हुसैन अहमद मदनी इसी दल के अन्तिम ऐतिहासिक प्रतिनिधि थे।

आगरा और सहारनपुर सशस्त्र क्रान्ति-संघर्ष के केन्द्र रहे। सहारनपुर में बम फैक्ट्री पकड़ी गयी। शिव बर्मा, डा० गया प्रसाद और जयदेव कपूर इसी काण्ड के हीरो हुए।

इस बलिदानी चर्चा को बन्द करना एक न्यायाधीश का उल्लेख किए बिना सम्भव नहीं है। वे क्रान्तिकारी नहीं थे, न्यायकारी थे और अपनी साहसी न्यायबुद्धि के कारण ही सशस्त्र क्रान्ति की चर्चा में उल्लेखनीय हैं। यह नाम है जस्टिस आगा हैदर का। उनका जन्म सहारनपुर में हुआ था। उन्हें भगतसिंह आदि के मुकदमे का फैसला करने वाले ट्रिब्यूनल का सदस्य बनाया गया था, पर जब शहीदों के शहीद कवि ओम प्रकाश की कवित्तयें गाने पर अभियुक्तों को अदालत में पीटा गया, तो जस्टिस आगा हैदर ने उसका प्रतिवाद किया। ट्रिब्यूनल के अंग्रेज प्रेसीडेंट जस्टिस कोल्ड स्ट्रीम ने पंजाब गर्वनर की माफत वायसराय को संदेश भेजा कि आगा हैदर के रहते भगतसिंह आदि को फाँसी नहीं दी जा सकती। इस पर सरकारी वकील कार्डन नोड को रात में आगा हैदर साहब के पास भेजा गया कि केस के बाद वे चाहेंगे, तो उन्हें वायसराय की कैबिनेट का सदस्य बना दिया जायेगा और वे चाहेंगे तो प्रिवी कौंसिल का जज, पर वे केस में अड़गा न लगायें। इस पर आगा हैदर साहब ने अपने नौकर से कान पकड़वा कर कार्डन नोड को अपने घर से निकलवा दिया। तब वायसराय ने आर्डिनैन्स से वह ट्रिब्यूनल तोड़ा और नया ट्रिब्यूनल बनाया। उत्तर प्रदेश में सशस्त्र क्रान्ति संघर्ष की यह एक नन्हीं झलक है।



## 12 : स्वामी अछूतानन्द की कफनी

दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस (1931) में इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री रैम्जे मैकडोनाल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा हिन्दुओं और अछूतों में दीवार खींचने का जो प्रयत्न हुआ, उसकी भूमिका धूर्त अंग्रेज गवर्नर ने 1926-27 में उत्तर प्रदेश में ही तैयार करने का प्रयत्न किया था। इसका नाम था आदिहिन्दू आन्दोलन और यह निश्चय ही एक भयानक राजनैतिक षड्यन्त्र था।

अचानक स्वामी अछूतानन्द प्रकट हुए। उन्न लगभग साठ वर्ष की, रोहरा रीबीला, बातचीत सुलझी हुई, पर उलझाने वाली, पैरों में खड़ाऊँ और देह में कन्धों से पैरों तक लटकती गेरुवा कफनी। वे अछूतों को कहीं इकट्ठा करते और उन्हें उपदेश देते। उपदेश का सार था—हम लोग हिन्दुस्तान के असली निवासी हैं, हम आदिहिन्दू हैं और जो लोग अब हिन्दू कहलाते हैं, यानी सवर्ण हिन्दू, वे बाहर से हिन्दुस्तान में आये और इन्होंने हम लोगों को युद्ध में हराकर अछूत बना लिया है।

भाषण का, बातचीत का ढंग इतना आकर्षक था कि लोग सुनकर जहरीले हो जाते थे। जलसों में अछूत लोग काफी तावाद्द में आते थे। बात यह थी कि जिले का अंग्रेज पुलिस कप्तान थानों को हुक्म देता था कि स्वामी जी के जलसे कराओ। थानेदार गांवों के मुखिया, नम्बरदारों को कहता था। बस, इस तरह से गाँव-गाँव से गरीब अछूत धकेल कर जलसों में भेजे जाते थे।

बहुत चूपचाप यह काम होता था। फिर भी इसकी खबर लाला लाजपत राय तक पहुँच गई। उन्होंने उत्तर प्रदेश के हरिजन नेता चौधरी बिहारी लाल से इस बारे में बातचीत की। अछूतोंद्वारा कमेटी में दोनों सहकर्मी थे। चौधरी साहब कांग्रेस के कर्मठ नेता थे और सरकारी नौकरी छोड़कर असहयोगी बने थे। वे मैदान में उतरे। जहाँ अछूतानन्द स्वामी का जलसा होता, वे गाँव-गाँव घूमते और हरिजनों को समझाते। उन्होंने स्वामी अछूतानन्द का नाम नकली स्वामी रख दिया और यह चल पड़ा। अछूत लोग भरे जलसों में उन्हें पुकारते—“अरे नकली स्वामी, तू हमें यह बात बता……।”



अछूतानन्द की बाणी में धूर्तता थी, छल था, चौधरी बिहारी लाल की बाणी में साधना थी, सद्भाव था। उनका प्रभाव बढ़ता गया और नकली स्वामी के पैर उखड़ते गए। जलमों में उनसे नये-नये प्रश्न पूछे जाने लगे। एक प्रश्न से स्वामी बहुत परेशान होता—“अरे नकली स्वामी, तेरी सूरत तो हमारी आत की है नहीं, तू कौंसा अछूतानन्द है?” अन्त में चौधरी बिहारी लाल ने यह रूप लिया कि जहाँ अछूतानन्द स्वामी का जलसा होता, वे वहीं जा पहुँचते और जलसे के बीच में स्वयं उसे उखाड़ते। थोड़ी देर में ही जलसा चौधरी साहब का हो जाता, वे भाषण देने लगते और बेचारा स्वामी टुकुर-टुकुर देखता रहता।

कोई सात महीने में स्वामी अछूतानन्द के पैर उखड़ गए। एक दिन उनकी कफनी पेड़ पर टंगी मिली और वे लापता हो गए। बाद में सुना कि वह कोई पेंशनयापता सरकारी अफसर था और गवर्नर के इशारे पर स्वामी अछूतानन्द बन गया था। उसका मैदान से हटना स्वाधीनता संग्राम के पथ से एक बड़े पत्थर का हटना था।



## 13 : काला स्वागत-खूनी मार

अंग्रेजी सरकार ने 1919 में जो मांटैग्यू-चेम्सफोर्ड शासन सुधार लागू किए थे, उनकी प्रस्तावना में कहा गया था कि इन सुधारों में घटा-बढ़ी की जांच के लिए दस वर्ष बाद एक कमीशन सरकार कायम करेगी और उसकी रिपोर्ट पर पार्लियामेंट विचार करेगी। 8 नवम्बर सन् 1927 को हिन्दुस्तान में यह घोषणा की गई कि एक कमीशन (अध्यक्ष के नाम पर उसका नाम पड़ा साइमन कमीशन) हिन्दुस्तान आयेगा और 3 फरवरी, 1928 को वह बम्बई आ पहुंचा।

हिन्दुस्तान में 1924 से 1928 तक का समय हिन्दू मुस्लिम दंगों का समय था। 1919 में साम्प्रदायिक एकता का जो स्वर्ण धरती पर उतरा था, वह टुकड़े-टुकड़े हो गया था। स्थिति इतनी उलझ गयी थी कि जेल से छूटने के बाद गांधी जी ने यह स्वीकार किया था कि मेरे पास इसकी कोई दवा नहीं है, पर साइमन कमीशन के आने के दिन देश भर में कांग्रेस के आह्वान पर जो हड़ताल हुई, उसने एक नई राजनैतिक रमक पैदा कर दी। मद्रास में कमीशन को काले शण्डे दिखाने और 'साइमन वापस जाओ' के नारे लगाने के लिए इतनी भीड़ इकट्ठी हुई कि पुलिस ने गोली चलाई। इससे तीन आदमी मरे और बहुत से घायल हो गए। कलकत्ता में भी मुठभेड़ हुई और दिल्ली में भी खूब प्रदर्शन हुए।

लाहौर में तो साइमन कमीशन का बायकाट एक इतिहास ही बन गया। वहाँ बायकाट का नेतृत्व लाला लाजपत राय ने किया। एक अंग्रेज पुलिस अफसर ने उन्हें अपने डण्डे से पीटा, इस चोट से कुछ दिन बाद उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के ठीक एक महीने बाद सरदार भगत सिंह और उनके साथियों ने लाहौर में ठीक थाने के सामने उस अफसर की हत्या कर दी और इस तरह सारे देश के वातावरण में एक नई उत्तेजना पैदा हो गयी।

तब साइमन कमीशन उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ आया। पुराने अनुभवों से लाभ उठाकर सरकार ने यहाँ बहुत प्रबन्ध किया। पुलिस और घुड़सवारों की ऐसी भीड़ जुड़ी कि लखनऊ एक फौजी पड़ाव-सा लगने लगा। कांग्रेस ने भी पूरी तैयारी की और कई दिन पहले ही जुलूसों, काले शण्डों, गरमागरम नारों और जलसों की शहड़ी लगा दी। जाने कितनी



बार डण्डे बरसे पर उससे कार्यकर्ताओं का जोश और भी बढ़ गया। अनेक लोग गिरफ्तार भी किये गये, पर गिरफ्तारी से कौन डरता था।

साइमन कमीशन के लखनऊ आने से एक दिन पहले एक सभा का ऐलान किया गया। सरकार ने लोगों के आने-जाने में बाधा पड़ने के नाम पर जुलूसों पर पाबन्दी लगा दी थी, इसलिए कांग्रेस ने अपने स्वयंसेवकों और कार्यकर्ताओं को यह हिदायत दी कि वे 16-16 आदमियों की टुकड़ी बना कर, डण्डे के साथ नारे लगाते हुए सभा में आयें। पंडित जवाहर लाल नेहरू और पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त भी ऐसी ही टुकड़ियाँ बनाकर आगे पीछे चले।

घुड़सवारों के एक दल ने नेहरू जी की टुकड़ी को घेरा और स्वयंसेवकों पर डण्डे इस तरह बरसाये कि वे गिर पड़े। जवाहर लाल जी अकेले रह गए। एक घुड़सवार डण्डा घुमाता हुआ जवाहर लाल जी के पास आया, तो उन्होंने ललकारा—लगाओ। घुड़सवार ने तमतमाकर दो डण्डे पूरे जोर से जवाहर लाल जी की कमर पर जड़ दिए। चोट इतनी गहरी थी कि उन्हें चक्कर आने लगा, शरीर कांपने लगा। फिर भी वे खड़े रहे। पन्त जी की टोली को भी इसी तरह पिटा गया था। इस पिटाई में दोनों टोलियाँ एक हो गयीं। पुलिस ने पिटाई बन्द कर टोलियों के आगे अपने को जमा दिया। आगे बढ़ने की जगह न थी, तो सब लोग वहीं जमीन पर बैठ गए। अजीब दृश्य था। बैठने वालों में हरेक पिट चुका था, पर कई के कपड़े खून में भीगे थे और कई के सिर फूटे हुए थे। फिर भी टोली का माहोल नारों से गुलजार था। पुलिस के पास अफसर इकट्ठे हो गए और टोली के पास जनता की भीड़। शाम का अंधेरा घिर आया, तो अफसर इस बात पर राजी हो गए कि प्रदर्शनकारी अपने-अपने रास्ते जा सकते हैं। अब एक दूसरा दृश्य था कि पुलिस पार्टी आगे-आगे थी और कार्यकर्ताओं की भीड़ पीछे; जैसे कोई बड़ी बारात हो और पुलिस वाले बैण्ड बजाते हुए जा रहे हों।

दूसरे दिन जब साइमन कमीशन रेल से लखनऊ आने वाला था, तो शहर ही उमड़ पड़ा। कई हजार आदमी छोटे-छोटे जुलूसों की शक्ल में कांग्रेस दफ्तर आ गए और वहाँ से चार-चार की पंक्ति में सजे एक बड़े जुलूस में बदल गए। यह जुलूस स्टेशन के पास मैदान (जहाँ बाद में नया स्टेशन बन गया है) में पहुँचा तो उसे रोक दिया गया। चारों ओर पैदल और घुड़सवार पुलिस के साथ फौज भरी हुई थी। अचानक घुड़सवार दूर से रास्तों के तमाश-वीनों को मारते गिराते जुलूस के सामने आ गए, पैदल पुलिस भी। और लाठियों से पिटाई शुरू कर दी। आज की पिटाई कल से भयंकर थी। सबसे तगड़ी पिटाई अपनी-अपनी जगह जवाहर लाल नेहरू और गोविन्द बल्लभ पन्त की हुई। नेहरू जी को अंधेरी आ गई, पर अपनी मजबूत इच्छा-शक्ति के सहारे वे गिरने से बचे रहे। इससे पिटाई का जोर और बढ़ गया, पर तभी कुछ साथी उन्हें वहाँ से हाथों-हाथ उठाकर ले गए—यह सोचकर कि उन पर घातक हमला हो रहा है। पन्त जी पर तो लम्बे-चौड़े होने के कारण ऐसी मार पड़ी कि हफ्तों उनकी कमर का दर्द नहीं गया। बाद में भी कमर का मामूली तिरछापन और सारे शरीर का कौमना जीवनभर इस दिन की पिटाई का स्मारक बन कर उनके साथ रहा। इस ऐतिहासिक लाठीचार्ज के बाद भी लखनऊ ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का डण्डा मूँ



काया और लखनऊ वालों का एक कारनामा तो बहिष्कार के इतिहास का 'मास्टरपीस' ही हो गया। बात यह हुई कि उत्तर प्रदेश के कुछ ताल्लुकेदारों ने कैसर बाग में साइमन कमीशन को एक पार्टी दी। पुलिस ने पूरे क्षेत्र को इस तरह घेर लिया कि एक भी काले झण्डे वाला वहाँ न घुस सके। सरकार निश्चिन्त थी कि यहाँ कोई विरोधी प्रदर्शन न होगा, पर जब पार्टी पूरे रंग पर थी, काली-काली पतंगें और काले-काले गुब्बारे आ आकर वहाँ गिरने लगे। हरेक पर लिखा था। साइमन लौट जाओ, यह हिन्दुस्तान सिर्फ हिन्दुस्तानियों के लिए है। पार्टी खाने वालों और पार्टी करने वालों के झुंड़ फक हो गए, पर लखनऊ के गली-कूचे ऐसे ठहाकों से गूँजे कि पूरा शहर ही कुछ देर के लिए तो हँसी का गुलदस्ता बन गया। उत्तर प्रदेश के दूसरे शहरों में भी, जहाँ साइमन कमीशन के लोग गए, उनका शानदार स्वागत हुआ। आगरे के स्वागत की चर्चा आवश्यक है; क्योंकि—साइमन गो बैंक—साइमन वापस जाओ—के नारों से कुड़े हुए ये लोग सिर्फ आगरे में ही जरा हँसी के मूड में दिखाई दिये। उनकी कुड़न का हाल था कि नई दिल्ली के इम्पीरियल होटल में जब यह लोग एक दिन रात में सो रहे थे, तो इन्हें पाम के जंगल से गीदड़ों की आवाज सुनाई दी। इन्होंने उस आवाज को बायकाट वालों की आवाज समझा। साइमन साहब उठ बैठे और बोले—“इन लोगों को रात में भी साइमन गो बैंक की ही धुन है, कम से कम रात में तो इन्हें चुप रहना चाहिए।”

कुड़न की इसी मानसिक दशा में यह लोग आगरा जा रहे थे। अगिरा से बारह मील पहले के एक स्टेशन पर इन लोगों के लिए चाय का प्रबन्ध था। ये निश्चिन्त थे, पर लोग वहाँ भी काले झण्डे लेकर पहुँच गए थे। गाड़ी के रुकते ही स्टेशन नारों से गूँज उठा। ठाकुर माधोसिंह प्रदर्शन का नेतृत्व कर रहे थे। वे वृद्ध थे, पर उनके व्यक्तित्व में राजपूती बाँकपन था। रंग गोरा, कद जँचता हुआ, सफेद दाढ़ी और उड़ीप्त चेहरा। कमाल हो गया कि ठाकुर साहब को साइमन कमीशन के अंग्रेजों ने भीड़ के सामने से अपने बीच में खींच लिया और उनके कई फोटो उतारे। शायद आगरा ने इन्हें भी पागल कर दिया था।

गाड़ी आगरा छात्रनी स्टेशन जा पहुँची। पुलिस ने ऐसा प्रबन्ध किया था कि प्लेटफार्म पर कोई न आ सके। शान्त प्लेटफार्म पर खड़े होकर साइमन कमीशन वालों को जरा चैन मिली ही थी कि रेल वालों के कोट पहने हुए कुछ आदमियों ने उनके सामने जाकर अपने कोट उतार दिये। देखा, उनकी छातियों पर काले-काले अक्षरों में लिखा था, साइमन गो बैंक। उन्होंने आवाज गुंजाई—‘साइमन गो बैंक’। स्टेशन से सड़क हाउस तक के लगभग डेढ़ मील लम्बे रास्ते में सड़क के दोनों ओर आदमी खड़े थे और चिल्ला रहे थे—‘साइमन गो बैंक’। आगरा सचमुच उस दिन उत्तेजना से पागल हो गया था।

\* \* \*



## 14 : मेरा रंग दे बसन्ती खोला

साइमन कमीशन हिन्दुस्तान की हुकूमत के ढाँचे पर विचार करने को हिन्दुस्तान आया था, पर कांग्रेस ने उसका बहिष्कार कर दिया था। विध्वंस की उग्रता के साथ ही साथ रचना का कौशल, गांधी जी की जीवन पद्धति थी। इसलिए 19 मई, 1928 को पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई, जो 'पूर्ण उत्तरदायी शासन' को आधार मानकर हिन्दुस्तान की हुकूमत का ढाँचा तैयार करे और अपनी रिपोर्ट एक जुलाई, 1928 तक कांग्रेस को दे।

बारडोली में सत्याग्रह होते-होते चोरीचोरा के कारण असहयोग आंदोलन बन्द हुआ था। 1928 में बल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में बारडोली में ही करबन्दी सत्याग्रह हुआ और किसानों ने त्याग और सहिष्णुता का अद्भुत परिचय दिया। सरकार को झुकना पड़ा। इन सब कारणों से राजनैतिक वातावरण के सोये हृदय में जागरण की घड़कनें सुनाई देने लगी।

इसी वातावरण में कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन वर्ष के अन्तिम दिनों में हुआ। उसके सभापति पंडित मोतीलाल नेहरू चुने गये। 36 घोड़ों की गाड़ी में उनका जुलूस निकला। सुभाष चन्द्र बोस ने स्वयंसेवकों का अद्भुत संगठन किया। असल में यह बंगाल के तरुण क्रांतिकारियों का संगठन था, जिसने आगे चलकर भगतसिंह की फाँसी के बाद चटगाँव में अपने सशस्त्र क्रांतिकारी कार्यों से अंग्रेजी सरकार की नींव हिला दी। कलकत्ता कांग्रेस ने अंग्रेजी सरकार को अल्टीमेटम दिया कि एक साल में—31 दिसम्बर, 1929 तक—वह नेहरू कमेटी की रिपोर्ट को स्वीकार कर ले, तो कांग्रेस सन्तुष्ट होगी; अथवा वह फिर पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य मानकर संघर्ष करेगी। इस अल्टीमेटम से देश के दिल की घड़कनें में तेजी आ गई—'कुछ होने वाला है', यह लगने लगा।

उत्सुकता और उत्तेजना के इसी सजीव वातावरण में 30-31 दिसम्बर, 1929 और एक जनवरी, 1930 को लाहौर में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होना तय हुआ। देश गांधी जी को उसका सभापतित्व सौंपना चाहता था, पर उन्होंने कांटों का यह ताज युवक हृदय-



सम्राट जवाहरलाल नेहरू के मिर पर रखा दिया। 23 दिसम्बर, 1929 को जब वायसराय लार्ड इरविन गांधी जी से मिलने के लिए हैदराबाद से दिल्ली लौट रहे थे, तो पुराने किले के पाम कलम और कारतूस के कलाकार यशपाल ने गाड़ी के नीचे बम का धड़ाका कर दिया। यह हिन्दुस्तान की सशस्त्र संघर्ष के इतिहास की एक चमत्कारी घटना थी। वायसराय बच गये, पर बातचीत असफल रही। अंग्रेजी सरकार ने नेहरू कमेटी की रिपोर्ट को स्वीकार नहीं किया, इसलिए 31 दिसम्बर की रात 12 बजे ही रावी के तट पर पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य घोषित किया गया और 26 जनवरी 1930 को सारे देश में स्वाधीनता की प्रतिज्ञा दोहराई गई। इसके अन्त में कहा गया था—“हम ब्रिटिश सरकार से स्वेच्छापूर्वक किसी भी प्रकार का सहयोग न करने की तैयारी करेंगे और सविनय अवज्ञा एवं करबन्दी तक के साज सजायेंगे।”

गांधी जी ने नमक के सरकारी ढेरों पर से मुट्ठी भर नमक उठाकर और समुद्र के पानी या खारी मिट्टी से नमक बनाकर नमक कानून तोड़ने का सत्याग्रह करने की घोषणा की। सबको यह बड़ा अजीब लगा। समझदारों ने हिसाब लगाया कि इस तरह नमक बनाने में ‘पड़ता नहीं पड़ेगा, पर गांधी जी की घोषणा थी कि इससे देश भर में विचार फैल जायेंगे। उन्होंने 2 मार्च, 1930 के पत्र में लिखा—“मैं जानता हूँ कि अहिंसात्मक संग्राम आरम्भ करने में जोखिम है, परन्तु सत्य की विजय अक्सर बड़ी से बड़ी जोखिमों के उठाने बिना नहीं हुई है। जिस राष्ट्र ने जान या अनजान में अपने से अधिक जनसंख्या वाले, अधिक प्राचीन और अपने ही समान सभ्य दूसरे राष्ट्र को शिकार बनाया, उसको ठीक रास्ते पर लाने के लिए कोई भी जोखिम बड़ी नहीं है।” गांधी जी ने यह पत्र अंग्रेज युवक रेजिनाल्ड रेनाल्ड के हाथों भेजा। इसका उत्तर आया—“आपके इस कार्य से निश्चित रूप से सार्वजनिक शान्ति भंग होगी।” गांधी जी ने तुरन्त शानदार उत्तर दिया—“मैंने दस्तबस्ता रोटी का सवाल किया था, पर मिला पत्थर। अंग्रेज जाति सिर्फ शक्ति का ही लोहा मानती है। हमारे राष्ट्र के भाग्य में तो जेलखानों की शान्ति ही एकमात्र शान्ति है।”

12 मार्च 1930 को गांधी जी अपने 79 साथियों के साथ दंडी यात्रा पर निकल पड़े। दंडी समुद्र तट पर एक साधारण गांव है। वहीं गांधी जी मुट्ठी भर नमक उठाने को चले। 24 दिन चलकर 5 अप्रैल, 1930 को प्रातः काल गांधी जी दंडी पहुँचे और उन्होंने अपने साथियों के साथ समुद्र तट से नमक बीनकर नमक कानून तोड़ा। तुरन्त गांधी जी ने अपने वक्तव्य में कहा—“नमक कानून बाकायदा टूट गया है। अब जो कोई सजा भुगतने को तैयार हो, वह जहाँ चाहे, जब सुविधा देखे, नमक बना सकता है। मेरी सलाह यह है कि कार्यकर्ता सब जगह नमक बनायें और ग्रामवासियों को भी सिखा दें, परन्तु उन्हें यह भी समझा दें कि छिपाकर नहीं, कानून को खुल्लम-खुल्ला भंग करना है।”

गांधी जी ने जनता से ताड़ी के पेड़ (जिनके रस से ताड़ी बनती है) काट डालने को कहा और अपने साथियों के साथ बरासना और छरसाड़ा के नमक कारखानों पर धावा करने की सूचना वायसराय को दी। 5 मई, 1930, रात में एक बजे गांधी जी को गिरफ्तार कर



पूना में नजरबन्द कर दिया गया, पर उत्तर प्रदेश तो इससे बहुत पहले ही कमर कसकर मोर्चे पर आ गया था।

X

X

X

गांधी जी ने 5 अप्रैल, 1930 को नमक कानून तोड़ा और उत्तर प्रदेश ने उदघाटन के तौर पर रायबरेली में 8 अप्रैल, 1930 को इस कानून की धजियाँ उड़ाई। 1857 और 1921 दोनों में रायबरेली ने बंबंग भाग लिया था, इसलिए उसे यह गौरव दिया गया। रफी अहमद किदवाई, मोहन लाल सक्सेना और कुंवर सुरेशसिंह इसकी देखभाल कर रहे थे। घोषणा की गई कि इलमऊ में गंगा के तट पर नमक बनाया जायेगा। मेंहदी हसन ने इसके लिए शेख बाड़ा मोहल्ले में शेख सखावत अली का मकान तय किया, पर पुलिस ने मेंहदी हसन को वहीं गिरफ्तार कर दिया। 7 अप्रैल की शाम को नेता लोग पहुँच गये, पर रात में अफवाह उड़ गई कि पुलिस नमक कानून तोड़ने से पहले ही नेताओं को गिरफ्तार कर लेगी। यह रायबरेली की शान के खिलाफ था। इसलिए सुबह ही सुबह यह खबर फैला दी गयी कि नेता लोग नमक बनाने के लिए लोन नदी के पालिया घाट की तरफ गये हैं।

बस फिर क्या था, पुलिस ताबड़तोड़ उधर भागी और इधर नेता लोग रायबरेली के तिलक भवन में पहुँच गये। प्रथम सत्याग्रही मुंशी सत्य नारायण को हजारों स्त्री-पुरुष जुलूस के साथ वहाँ लाये। गाँवों से भी हजारों आदमी आये हुए थे। उत्साह फूट पड़ा। पंडित मोतीलाल नेहरू, धीमती कमला नेहरू और 12 साल की इन्दिरा भी आ पहुँची। इससे बहू दिन एक त्योहार ही हो गया। इन्दिरा जी के भावी नेतृत्व का जैसे रायबरेली में ही मंगल मुहूर्त हुआ। नमक बना, पंडित जी ने उसे नीलाम किया और तालियों, नारों, जयकारों से आकाश गूँज उठा, जब उसे एक सरकारी अधिकारी के पुत्र ने 51 रुपये में खरीदा। मुंशी सत्य नारायण गिरफ्तार कर लिये गये और जिले के गाँव-गाँव में नमक बनने लगा। हालत यह हो गयी कि पुलिस भागते-भागते थक गई और नमक बनने की घोषणाओं को अनसुनी करने लगी।

गोरखपुर से सहारनपुर तक पूरा उत्तर प्रदेश नमक-मय हो गया। जुलूस निकलता, "मेरा रंग दे बसन्ती चोला" और "सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है" के नारों से बाजार-कूचे गूँजते, नमक बनता, नमक कानून टूटता, गिरफ्तारियाँ होतीं, वीरों को जुलूसों के साथ फूलमालाओं से लाद कर जेलों तक पहुँचाया जाता और फिर शानदार जलसे होते, उन्हें बधाई दी जाती। इन जुलूसों और जलसों में जनता टूट पड़ती। यह आन्दोलन 1920-21 के आन्दोलन से बहुत आगे था। पहला आन्दोलन असहयोग था, दूसरा सत्याग्रह।

इस सत्याग्रह में विदेशी वस्त्रों की सिर्फ होलियाँ ही न थी, विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरना भी था। जो बजाज अपना विदेशी वस्त्र बाँधकर ओढ़ उन गठरियों पर कांग्रेस की मुहर लगवाकर रख देता और सिर्फ स्वदेशी कपड़ा ही बेचना स्वीकार न करते थे, उनकी



दुकानों पर कांग्रेस के स्वयंसेवक खड़े हो जाते और आने वाले ग्राहकों से प्रार्थना करते कि वे इस दुकान से कोई वस्तु न खरीदें। यदि कोई ग्राहक न मानता, तो स्वयंसेवक शान्ति के साथ उसके और दुकान के बीच में लेट जाते कि आप हमारे ऊपर से ही जा सकते हैं। बहुत कम लोग ऐसे होते जो स्वयंसेवकों को लांघकर दुकान में जाते।

सबसे अधिक उत्तेजक स्थिति थी शराब की दुकानों की। वहाँ घरना देने का काम गांधी जी के विशेष निर्देश के अनुसार स्त्रियों को दिया गया। सफेद खादी की साड़ियां पहने भले घरों की बहू-बेटियाँ-मायें घरना देतीं और शराबियों को रोकतीं। शुरु में तो यह आरम्भ करते दड़ा डर लगा था, पर बाद में इसके परिणाम अच्छे निकले। एक खास बात यह थी कि आन्दोलन अपनी पहली ही छलाँग में गाँवों में पहुँच गया था। किसी गाँव में जलसा होता था, तो आल-पास के कई गाँवों के लोग झण्डे ले लेकर राष्ट्रीय उत्तेजना से भरे हुए गीत गाते हुए और नारे लगाते हुए आते और ऐसे ही लौटते। सारा वातावरण उद्वेलित हो उठता और नये लोग शिक्षक से निकल, आत्मविश्वास के साथ आन्दोलन में आ कूदते।

इलाहाबाद में स्वयं जवाहरलाल जी ने आन्दोलन को संगठित किया था। उनके साथी भी धुन के धनी थे। गाँव-गाँव में लहर थी। जवाहर लाल 14 अप्रैल, 1930 को गिरफ्तार कर लिये गये। वे कांग्रेस अध्यक्ष के नाते देश भर में आन्दोलन के अधिष्ठाता थे। गिरफ्तार होते समय उन्होंने अपने पिता पंडित मोतीलाल नेहरू को अधिष्ठाता का चार्ज दिया। यह भी इतिहास का एक मार्मिक दृश्य था। 1928 में मोतीलाल जी कांग्रेस प्रेसीडेंट थे। उन्होंने 1929 में लाहौर कांग्रेस के प्रेसीडेंट जवाहर लाल जी को चार्ज दिया था। अब 1930 में फिर जवाहर लाल जी ने मोतीलाल जी को चार्ज दिया।

अंग्रेजी सरकार पूरी तरह दमन पर उतर आयी थी। अपने अफसरों के गैरकानूनी कार्यों को कानूनी बनाने के लिए वायसराय घड़ाघड़ आर्डिनेंस बना रहे थे। गिरफ्तारियाँ तो मामूली बात थी, पर जुलूसों पर लाठी चार्ज भी रोज ही होने लगे थे। मोतीलाल जी का स्वास्थ्य ठीक न था, पर वे आन्दोलन का निर्देशन पूरी लगन से कर रहे थे। डाक्टर अन्सारी ने उनके स्वास्थ्य की परीक्षा की और उन्हें खतरे में पाया। खतरा इतना अधिक था कि उन्होंने इसकी सूचना गांधी जी को दी। इधर-उधर के सफर से उनकी हालत और गिर गयी। मित्रों के आग्रह पर उन्होंने 15 दिन की छुट्टी लेकर पहली जुलाई से मंसूरी में आराम करने की बात सोची, पर वे जून 1930 की आखिरी तारीख को गिरफ्तार कर नैनी जेल भेज दिये गये, जहाँ जवाहर लाल जी पहले से ही अपनी सजा भुगत रहे थे।

नेहरू परिवार के जो लोग जेल से बाहर थे, वे सभी आन्दोलन में जुटे हुए थे। श्रीमती कमला नेहरू बीमार होते हुए भी मर्दाना कुर्ता पाजामा और सिर पर टोपी पहन कर घरने का नेतृत्व करती थी। कृष्णा नेहरू (बाद में श्रीमती कृष्णा हथीसिंह) विद्यार्थी संगठन का नेतृत्व कर रही थीं और कुर्ता पाजामा-टोपी में मोर्चे पर जाती थीं। श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित अपना इलाज छोड़कर बम्बई से इलाहाबाद आ पहुँचीं और धूमधाम से जुट पड़ीं। उन्हें



- पंडित मोतीलाल जी ने जेल में लिखा कि “मालुम होता है तुम जेल से न्यूता पाने को बेकरार हो ?” नन्ही-मुन्ही इन्दिरा बच्चों की स्वयंसेवक संस्था की कमाण्डर थीं और उन्हें कवायद कढ़ाया करती थी। उनके जीवन का यह पहला मोर्चा था। पंडित मोतीलाल जी ने जेल में मजाक में इन्दिरा को लिखा था—“तुम्हारी वानर सेना का क्या हाल है ? मेरा मूआव है कि उसका हर सदस्य एक पूँछ लगा ले और उस पूँछ की लम्बाई इस बात पर निर्भर हो कि सेना में उसका दर्जा क्या है ?” मतलब यह कि सबसे लम्बी पूँछ इन्दिरा की ही होगी। और तो और माता स्वरूप रानी भी चुप न थीं, काम में जुटी थीं। मोतीलाल जी ने उन्हें जेल में लिखा था कि—“तुम इतनी ज्यादा मेहनत कर रही हो, जिसे तुम्हारी बूढ़ी हड्डियाँ बर्दाश्त नहीं कर सकती।” इन लोगों के फोटो पत्रों में छपते थे और सभी जगह उनसे प्रेरणा मिलती थी - स्त्रियों को घरों से निकल कर मोर्चों पर आने में इनसे बहुत मदद मिली।

पूरा इलाहौबाद जिला ही नहीं, उसके आसपास के जिले भी आन्दोलन की गरमी से उफन उठे। वैसे पूरे ही उत्तर प्रदेश में कहीं भी शिथिलता न थी—न आन्दोलन में—न दमन में। कहना ही मुश्किल है कि आन्दोलन दमन को तेज कर रहा था या दमन आन्दोलन को। पेशावर में उत्तर प्रदेश के सपूतों ने हिंसा की ज्वालामुखी के बीचोबीच अहिंसा का जो मंगल दीप जलाया, उसका घुआ अंग्रेजी सरकार के दिलों में भर गया और प्रकाश छा गया जनता के मन-मन्दिर में।

बात यों हुई, अप्रैल, 1930 में गढ़वाल बटालियन की ड्यूटी पेशावर में लगाई गई। उन्हें अंग्रेज अफसर ने समझाया कि यहाँ 90 फीसदी मुसलमान दो फीसदी हिन्दुओं पर बड़े अत्याचार करते हैं और उनकी कपड़े, शराब की दुकानों पर धरना लगा देते हैं। आपको हिन्दुओं की रक्षा के लिए शायद किसी दिन शहर जाना पड़े और गोली भी चलानी पड़े। हवलदार चन्द्र सिंह गढ़वाली ने सबको बाद में कांग्रेस के सत्याग्रह की बात समझाई। रात में बटालियन के 5 नेताओं ने सलाह की और पठानों पर गोली न चलाने की कसम खाई। पूरी योजना बन गई।

23 अप्रैल, 1930 को गढ़वाली बटालियन को किस्सरवानी बाजार में लाया गया। वहाँ तिरंगा फहरा रहा था और कांग्रेस का जलसा हो रहा था। कैप्टन रिकेट ने चिल्ला कर लोगों से कहा—“तुम लोग भाग जाओ नहीं तो गोलियों से भून बिये जाओगे।” एक भी पठान अपनी जगह से नहीं हटा, तब रिकेट ने हुक्म दिया—“गढ़वाली, तीन राउण्ड फायर—गढ़वाली, तीन राउण्ड गोली चलाओ।” हवलदार चन्द्रसिंह रिकेट के बायीं ओर खड़े थे। उन्होंने हुक्म दिया—“गढ़वाली, सीज फायर—गढ़वाली, गोली मत चलाओ।” दूसरा हुक्म माना गया और सिपाहियों ने अपनी बन्दूकें जमीन पर खड़ी कर दीं। चन्द्रसिंह ने रिकेट से कहा—“हम निहत्थों पर गोली नहीं चलाते।”

24 अप्रैल, 1930 को सुबह सब गढ़वाली अधिकारियों को बुलाया गया। वहाँ मेजर



ब्राह्मिकल ने सबको खूब फटकारने के बाद कहा—“आज तुम्हें फिर शहर जाना होगा और गोली चलानी होगी। जनरल साहब का हुक्म है कि जो सिपाही गोली चलाने से इन्कार करेगा उसे वहीं गोली मार दी जायेगी।”

चन्द्रसिंह गढ़वाली ने लौटकर समझाया—“आपको याद है कि, गोरखा बटालियन ने जलियान वाला बाग में निहत्थी जनता पर गोली चलाई थी। आज तक लोग उसके नाम पर यूकते हैं। मालाबार में 1/18 रायल गढ़वाल रायफल्स ने मोपलों पर जुल्म किया था। आपने देखा होगा कि अस्पतालों में मोपला डाक्टर गढ़वालियों को कैसी बुरी निगाह से देखते हैं। हम अपनी यह गत नहीं होने देंगे और हम 800 गढ़वाली कांग्रेस के नाम पर पेशावर में अपना जीवन न्योछावर कर अमर हो जायेंगे।” ओह, उस दृश्य को देखने स्वर्ग के देवता भी पृथ्वी पर उतर आये, जब सबने गायत्री मन्त्र पढ़कर और अपनी चुटिया हाथ में लेकर शहर न जाने की कसम खाई। सचमुच उस दिन कोई गढ़वाली हुक्म मिलने पर भी शहर नहीं गया। फौजी अदालत ने 60 गढ़वाली वीरों को कठोर सजायें दीं।

अल्मोड़ा 1921 के असहयोग में बेगार प्रथा का उन्मूलन कर यश की पूंजी कमा चुका था, 1930 के सत्याग्रह में वह कैसे चूकता? जगह-जगह नमक कानून तोड़ा गया, गिरफ्तारियाँ हुई, लोग हँसते-हँसते जेल गये, डंडे खाये, पर झण्डे की शान के लिए आकले की अकल ठिकाने लगाकर तो अल्मोड़ा ने पूरे उत्तर प्रदेश के राजनैतिक जीवन में ही एक चमक पैदा कर दी।

बात यों हुई, कि अल्मोड़ा म्युनिसिपल बोर्ड ने 25 मई, 1930 को प्रस्ताव पास किया कि बोर्ड के भवन पर तिरंगा झण्डा लहराया जाये। अंग्रेज कलक्टर ने इस प्रस्ताव को यह कहकर रोकना चाहा कि इस भवन में दूसरे सरकारी दफ्तर भी हैं, इसलिए उस पर तिरंगा झण्डा नहीं लग सकता, पर अल्मोड़े के नेता और जनता इतने भोले कहां थे कि ऐसी बातों में आ जायें। 26 मई, 1930 को मोहनलाल जोशी और शान्तिलाल त्रिवेदी के नेतृत्व में एक भारी जुलूस निकला और जलसे में बदल गया। खुला जोश, उमड़ता जोश और यह निर्णय कि आज झण्डा लगाकर ही घर लौटेंगे।

प्रेरणा जनता की, 150 स्वयंसेवक इस संकल्प के साथ कि जेल जायेंगे या झण्डा लगायेंगे—जनता भी आगे-पीछे। वहाँ पहुँचे कि दफा 144 की घोषणा हो गयी। अब इनकी योजना यह कि दो-दो स्वयंसेवक आगे बढ़ेंगे और झण्डा लगाने का प्रयत्न करेंगे। वे गिरफ्तार हो जायें, तो दूसरे दो आगे बढ़ेंगे, पर उनकी योजना? लैफ्ट राइट, लैफ्ट राइट—ये आ पहुँचे अस्सी गोरखा सैनिक, खुखरी और बन्दूकों ही नहीं, मशीनगन तक उनके साथ और भवन उनके घेरे में। अंग्रेज कलक्टर का कड़कता ऐलान—“पाँच मिनट में सब भाग जाओ नहीं तो गोली चलेगा।” एक काले अफसर ने सटाक से दो-चार हंटर भी फटकार दिये इधर-उधर।

परिस्थिति एकदम तई, आये थे जेल जान को, पर यह निमन्त्रण तो शहादत का है,



आत्माहुति का है। नेता हर परिस्थिति को तैयार, पर दूसरों के बेटे ये स्वयंसेवक, जिनमें सुबोध भी, अबोध भी जीवन का जुआ खेलने से बचना ही ठीक। उन्होंने स्वयंसेवकों से कहा—“परिस्थिति खरबनाक हो गयी है। वे लोग ही यहाँ रहें, जिनकी मानसिक और घरेलू परिस्थिति बलिदान के लायक है। बाकी शान्तिपूर्वक बाहर चले जायें।” उनकी नजर ठीक निकली। ज्यादा से ज्यादा चले गये, कम से कम रह गये।

अब पाँच-सात स्वयंसेवक पीछे और दोनों नेता आगे। झंडा मोहन जोशी के हाथ में। लम्बी छरहरी देह, मालवीय जी-सा गले में साफा, शुभ्र वेश, गोरमुख-आहुति की भावना से प्रज्वलित और मधुर स्वर चहुँदिसि गुंजित—

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा, झण्डा ऊँचा रहे हमारा !

इसकी शान न जाने पाये, चाहे जान भले ही जाये !!

अंग्रेज कलक्टर के तमतमाये चेहरे पर तेजी से भावों की भागदौड़, तब एक संकेत और गोरखा सिपाही झण्डे के सामने—एक दम पास और झण्डा इनके हाथ से छीनने का प्रयत्न। उधर हिंसा सन्नद्ध सैनिक, इधर अहिंसा के स्वयंसेवक। एक तरफ क्रोध, दूसरी तरफ बोध, एक जोरदार संघर्ष और अन्त में यह दृश्य कि झण्डा और बाँस का अधिकांश भाग देशभक्तों की तरफ और उसकी नीचे वाली मूठ सिपाहियों के हाथ। शक्ति लगभग पराजित और भक्ति विजयी। यहीं शक्ति की फुंकार कि गोरखा सैनिक वेददीं से डंडे बरसाने लगे—अन्धाधुन्ध मार, पर दोनों नेता शान्त, हिंसा-अहिंसा की शक्तियों के द्वन्द्व का एक निराला दृश्य।

अचानक किसी मजबूत चीज का मोहन जोशी की हड्डी पर प्रहार। मन सन्नद्ध, पर शरीर बेकाबू। मोहन जोशी गिर पड़े। वैसी ही एक और चोट। शान्ति त्रिवेदी की पसली टूट गयी। वह खड़े रहे फिर भी। यह साहस दुश्मन को असह्य। तभी सिर पर डंडे का सधा-पूरा हाथ, वे बेहोश, पर उसी हालत में एक और प्रहार और पैर की हड्डी भी कड़ाक, दोनों स्ट्रेचर पर, दोनों उन्हीं गोरखा सैनिकों के कंधों पर और यों अस्पताल की चारपाइयों पर। हड्डियाँ टूटी हुई, पर भावना अटूट, अस्पताल की चारपाई से ही म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन रेवरेंड आकले साहब को अल्टीमेटम—“27 जून, 1930 तक झंडा भवन पर न फहराया गया, तो हम दोनों घायल होते हुए भी डांडी में लदकर आवेंगे और झण्डा फहरावेंगे—फिर इसका नतीजा कुछ भी हो।” जनता से भी स्वयंसेवक तैयार करने की अपील, अपील से जनता का उत्साह लहरों पर—जिले भर में उत्तेजना, अधिकारियों में सनसनी और यह है 25 जून, 1930—सुबह ही सुबह लोगों ने सुखद आश्चर्य से देखा—म्युनिसिपल बोर्ड के भवन पर शान से तिरंगा झण्डा फहरा रहा है। अलमोड़े की शीतल चोटियाँ ध्वनियों-प्रतिध्वनियों से गुंजित—झण्डा ऊँचा रहे हमारा।

पुलिस चौकी पर ग्यारह सिपाही, जिनका काम गुलामी की जंजीरों की देखभाल करना,

कांग्रेस चौकी पर ग्यारह स्वयंसेवक, जिनका काम गुलामी की जंजीरों को तोड़ना।



बुलन्दशहर ने गांधी जी का दण्डीमार्च शुरू होते ही स्वाधीनता की लड़ाई का झण्डा फहरा दिया और शहर-गाँव-कस्बों में कांग्रेस का संगठन बहुत योग्यता से किया। विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर ऐसा जमकर धरना हुआ कि घड़ाघड़ गाँठे बँधने लगीं। माँ-बहनें शराब की दुकानों पर जा डटी कि पहले तो शराबी का दुकान के भीतर जाना ही मुश्किल, पर चला जाये, तो लौटते समय उसकी गैरत ऐसी जागे कि वह खरीदी बोतल अपने हाथों जमीन पर दे मारे। पंचायतों का जाल बिछ गया और मुकदमों का फँसला आनन-फानन होने लगा। हर तहसील में एक-एक झण्डे का मेला किया गया। इसमें हजारों-हजार आदमी इकट्ठे हुए। जलसे-जुलूसों का जाल बिछ गया और महात्मा गांधी की जय से जमीन-आसमान एक हो गये। खास बात यह हुई कि सरकारी डाकखानों से अलग डाक का प्रबन्ध किया गया। डाक कांग्रेस के दफ्तर में आती और कांग्रेस चौकियों द्वारा बाँटी जाती। स्वयंसेवक रात में पुलिस की तरह गश्त लगाते और जनता चैन से सोती।

गवर्नर सर मालकम हैली आये, तो अंग्रेज कलक्टर और पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट ने उन्हें अपनी आँखों के काजल की तरह पुलिस पलकों के पहरे में रखा और पूरा प्रयत्न किया कि कांग्रेस वालों की नजर न लगे। वे किधर से आयेंगे किसी को खबर न दी, पर खबर की चित्तली उड़कर कांग्रेस वालों पर जा बैठी और ज्यों ही गवर्नर की गाड़ी नदी के पुल पर आयी, हर झाड़ी स्वयंसेवक हो गयी—हर झाड़ी में छिपा स्वयंसेवक तिरंगा झण्डा लेकर उठ खड़ा हुआ, चिल्लाया—गवर्नर वापस जाओ। गवर्नर की गाड़ी गुरीकर निकल गयी, पर पुलिस के पालतू गुण्डे स्वयंसेवकों पर टूट पड़े और तब तक मारते रहे जब तक स्वयंसेवक गिर न पड़े।

पुलिस में सभी जगह ऐसे लोग भी थे जो नीकरी से मजबूर थे, पर दिल में जिनके कांग्रेस वालों का आदर था, और ऐसे भी थे जो अपने को अंग्रेजों का दत्तक पुत्र मानते थे। ऐसा ही एक थानेदार था। वह तिरंगा देखकर आगबबूला हो जाता था और कहीं कांग्रेस की सभा देखता तो उसे अपनी बेइज्जती मानता। एक सभा पर घोड़ा चढ़ाने के कारण उसकी पिटाई भी हो गयी थी, इससे वह कुड़ा हुआ था।

उसे जब मालूम हुआ कि उसके इलाके—गुलावठी—में एक सभा 12 सितम्बर, 1930 को होने वाली है; तो वह बोखला उठा। आस-पास के सभी गाँवों में खूब प्रचार हुआ और मेरठ के वकील चौधरी खुशीराम को भाषण देने के लिए बुलाया गया। सभा में जब हजारों आदमी शान्त बैठे थे, थानेदार घोड़े पर सवार आया और उसने सबके ऊपर घोड़ा चढ़ा दिया। यही नहीं, उसके सिपाही लोगों को डण्डे से पीटने लगे। सभा में भगदड़ मचने लगी। भटौना के जाट भगवान सिंह के संघर्ष का बाँध टूट गया। उन्होंने अपनी लाठी का एक ही हाथ चलाया कि वंह थानेदार घोड़े से ऐसा गिरा कि फिर कभी अपने पैरों खड़ा न हुआ। मृतक थानेदार को वही छोड़कर पुलिस वाले भाग गये, पर थोड़ी देर बाद ही पुलिस की दूसरी टोली आयी और उसने खूब जुल्म डाले।



• अनेक आदमी धायल हुए, मर गये। चौधरी खुशीराम को पुलिस थाने में ले गयी और उन्हें खड़ा करके उनका एक हाथ गोली से उड़ा दिया। उन्होंने बड़ी बहादुरी से उसे सहा। फिर तो पूरा इलाका ही पुलिस राज्य हो गया। गुलाबठी पर घेरा पड़ा। जिसे चाहा पीटा गया, लूटा गया। रिश्वत की धूम मच गई, गिरफ्तारियां जिले भर में हुईं। लगभग एक हजार आदमी पकड़े गये, पर मुकदमा 45 पर चला। अंग्रेज जज बुलाये गये। 14 आदमियों को चौदह-चौदह वर्ष की सजाये हुईं। ये लोग 1937 में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बनने पर जेलों से छूटे। गुलाबठी में अब भी हर साल मेला लगता है।

शहरों में विदेशी वस्त्रों और शराब के ठेकों पर धरना था, इससे खूब उत्तेजना थी, पर गाँवों में ऐसे बाजार कहाँ थे? उत्तर प्रदेश के गाँवों में कई जगह ऐसी घटनायें हुईं, जिनसे शराब की दुकान का चलना असम्भव हो गया। ये घटनायें भी दो तरह की हैं। रणखण्डी के एक जलसे में भाषणकर्ता ने कहा—“यह गाँव राजपूतों का गढ़ है। यहाँ शराब की दुकानें चलती हैं इसे देख कर राणा प्रताप स्वर्ग में बैठे आंसू बहाते होंगे।” जलसे के बाद भाषणकर्ता से युवक मुंशीसिंह ने कहा कि—“अबकी बार जब आप गाँव में आओगे, शराब की भट्टी बन्द पड़ी मिलेगी।” भाषणकर्ता ने इस घोषणा के लिए उसकी प्रशंसा की।

सबने भाषणकर्ता से कहा—“किसकी बातों में आ रहे हैं आप? यह और इसके दोस्त ही तो भट्टी के ग्राहक हैं।” उस समय भी यह युवक खूब शराब पिये हुए था। फिर भी उसने कहा—“देख लेना, अब कभी राणा प्रताप नहीं रोयेगा।” दूसरे दिन वह युवक अपने दोस्तों को लेकर भट्टी पर गया और ये लोग सारी शराब पी गए और बिना पैसे दिये चले आये। ठेकेदार दूसरे दिन पास के कस्बे में गया और सोलह बोतलें शराब खरीद लाया। गाँव के पास वाले बाग में ठेकेदार को यह युवक और उसके दोस्त मिले और सोलह की सोलह बोतलें तो पी ही गये, सब बोतलें भी फोड़ दीं। वह रोता हुआ दुकान पर आया तो देखा कि दुकान ही टूटी पड़ी है। बस, दुकान बन्द हो गयी और युवक और उसके उन साथियों ने शराब पीना भी छोड़ दिया।

जखवाला में भी शराब की भट्टी थी। कांग्रेस कार्यकर्ता ठाकुर अनूप सिंह ने भूख हड़ताल कर दी कि तब तक अन्न-जल नहीं लूंगा, जब तक शराब की दुकान न हटे। दो दिन लोगों के लिए तमाशा रहा, तीसरे दिन चिन्ता हुई और चौथे दिन पंचायत ने ठेकेदार को भगा दिया। लोटनी में कांग्रेस का स्वयंसेवक सीताराम रहता था। वह कुएँ पर जा बैठा। उसकी प्रतिज्ञा थी कि शराब की दुकान न उठी तो कुएँ में कूद पड़ंगा। दिन भर वह कुएँ पर बैठा रहा और शाम को तब घर लौटा, जब ठेकेदार बोतलें लेकर गाँव से दूर चला गया। गाँवों में इस तरह की घटनाओं से उत्तेजना फैलती थी और तब लोग जेल जाने को तैयार होते थे।

गोरखपुर (चोरीचोरा) के नाम पर ही 1921 का असहयोग बन्द किया गया था, इसलिए गोरखपुर वालों के मन में यह बात थी कि 1930 में जिले में कांग्रेस का ऐसा संगठन



हो कि आन्दोलन बहुत शान से चले, पर हिंसा की कोई घटना न हो। धर्म की भाषा में उनके मन में प्रायश्चित की भावना थी।

‘दण्डी मार्च’ आरम्भ होते ही जिले के गाँव-गाँव में प्रचार किया गया, लोगों को अहिंसा की टैक्नीक समझाई गई और बताया गया कि इस वार 1921 में लगा कलंक धोकर जिले की पताका ऊँची रखनी है। इस बात से गोरखपुर की आम जनता में कुछ-कुछ वैसी ही उत्तेजना भर गयी जैसी हिटलर ने 1914-18 के युद्ध के बाद हुई वसंलीज की सन्धि के अपमान को धो डालने के नाम पर जर्मन देशवासियों में भर दी थी। लोग अँगड़ाई लेकर खड़े हो गये। जलसे, जुलूसों का ताँता बँध गया। शराब और विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर धरना दिया जाने लगा और नमक कानून तोड़ा जाने लगा।

स्वयंसेवकों, कार्यकर्ताओं और जनता में पूरी उत्तेजना थी, पर इस उत्तेजना की आग में सरकार की ओर से झपकी नहीं दी जा रही थी। सरकार की चोरीचोरा में जो कुछ हुआ था याद था, उसके मन पर उसका आतंक था, इसलिए सरकार आन्दोलन के प्रति तटस्थ-सी थी, धरना देते स्वयंसेवक पकड़े जाते, पर दूर ले जाकर छोड़ दिये जाते। देख-भाल कर ही किसी को जेल भेजा जाता, पर एक भैंस ने सारे जिले को तीव्र उत्तेजना से उफान दिया।

बात यह हुई कि नीलाडुमरी के बलिकरन पासी को 6 महीने की कैद और 40 रुपये जुर्माने की सजा हुई। यह एक गरीब स्वयंसेवक था कांग्रेस का और एक भैंस के सिवा इसके पास कुछ न था। उसका दूध बेच कर यह अपने परिवार का पालन-पोषण करता था। अधिकारियों ने जुर्माने की वसूली के लिए भैंस की कुर्की की, पर वे जानते थे कि नीलामी में यहाँ कोई भी बोली न बोलेगा, इसलिए उसे जिला अदालत में ले आये। वहाँ नीलामी शुरू हुई तो भैंस के पीछे-पीछे आये स्वयंसेवकों ने सबको बताया कि यह गरीब कांग्रेसी स्वयंसेवक की भैंस है। इस पर किसी ने बोली नहीं बोली। अधिकारियों ने लोगों को, अपनों-बेगानों को लाख उकसाया, पर किसी का मुँह न खुला। भैंस अधिकारियों के गले में प्रतिष्ठा की फाँस हो गयी और वे उसे सिर्फ एक रुपये में बेचने को तैयार हो गये, पर वहाँ तो कोई एक पैसे में भी लेने को तैयार न था। भैंस सनहा निवासी अमन सभाई कासिम अली को सुरक्षित रखने के लिए दे दी गई, पर रात में उनके घर से भैंस जाने कहाँ भेज दी गयी।

यह एक ज़ुनौती थी। कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने कासिम अली के घर पर दिन भर हाय-हाय के नारे लगाने का सत्याग्रह छेड़ दिया। कासिम अली का बैठना, उठना, खाना, पीना हाय-हाय में दबा रहता। उसकी गुहार सुनकर अंग्रेज क्लबटर, अंग्रेज पुलिस कप्तान, थानेदार और सिपाहियों, घुड़सवारों के साथ सनहा आया। यह खबर जंगल में आग की तरह फैल गई और गाँव-गाँव से चलकर हजारों की भीड़ इकट्ठी हो गई। भीड़ उत्तेजित थी और डर था कि फिर चोरीचोरा काण्ड न हो जाये, पर नेताओं ने एक नारे से आकाश गुंजा दिया—हम मर जायेंगे, पर मारेंगे नहीं। नारे ने भीड़ को नियन्त्रित किया और क्लबटर



के भीड़ पर घोड़ा चढ़ाने, लाठीचार्ज कराने और 15 व्यक्तियों को गिरफ्तार करने पर भी सब शान्त रहे। घायलों की चिकित्सा करने से सरकारी अस्पताल ने इन्कार कर दिया और एक कैंप बना कर निजी डाक्टर से मरहम-पट्टी कराई गई।

सारे जिले में यह खबर फैल गयी। जिला कांग्रेस के मन्त्री श्यामाचरण शास्त्री, दूसरे दिन पैदल सनहा की ओर चले। तनाव और उत्साह इतना था कि जिसने सुना वह दौड़ा आया और जिसने देखा, वह काम छोड़ साथ हो लिया। शास्त्री जी चले थे दो साथियों के साथ, पहुंचे भीड़ लिये हुए। भीड़ में ऐसे लोग भी जो मरने-मारने को तैयार। कासिम अली के दरवाजे पर हथियारबन्द पुलिस के सिपाही। पेट्रोल और माचिस पास ही पास कि अब आग भभकी और अब आग भभकी। शास्त्री दोनों के बीच में आये और उन्होंने भीड़ को ललकारा—“कोई भी आदमी दूसरी बार गोरखपुर का नाम कलंकित न होने दे। जो लोग गांधी जी के सिद्धान्तों के साथ प्रदर्शन करना चाहें, मेरे पास आ जायें, बाकी जरा पीछे हट जायें।”

शास्त्री जी यहीं नहीं रुके, उन्होंने जेब से चाकू निकाला, खोला और ऊपर उठे हाथ में ले लिया—“जो कोई इससे अपना अंगूठा चौर कर कागज पर निशान लगायेगा, वही आज के प्रदर्शन में हिस्सा लेगा, बाकी लोग अपनी-अपनी जगह शान्त खड़े रहेंगे।” शास्त्री जी ने सबसे पहले अपना अंगूठा चौर कर निशान किया, फिर कमलबिहारी, श्रीकान्त, विश्वम्भर और काली प्रसाद ने। पाँचों का जत्था कासिम अली के मकान पर गया, उसने काफी देर नारे लगाये और जब पुलिस ने कुछ नहीं किया तो लौट आया। आज का कार्यक्रम समाप्त; भीड़ छंट गयी।

दूसरे दिन से यही कार्यक्रम कि दिन भर स्वयंसेवक कासिम अली के द्वार पर हाय-हाय के नारे लगाते, रात में पास के बाग में जा पड़ते। पुलिस ध्यान रखती, पर गाँवों के लोग निश्चित गड़ड़ों में चुपचाप खाना रख जाते और स्वयंसेवक खा लेते। दमन और सख्त हुआ। पुलिस बाग में पहुंचती और जो भी सामान, यहाँ तक कि कपड़े भी, वहाँ होता, उठा लेती या जला देती। दिसम्बर की सर्दी और कोई कपडा नहीं, किसी-किसी दिन पुलिस की क्रूरता के कारण भोजन भी नहीं, पर स्वयंसेवकों की संख्या 4 से 150 हुई गयी—हाय-हाय के नारे अब आसमान फोड़कर गूँजते। पुलिस की क्रूरता और बढ़ी। पानी के लिए जो थड़ा आता, वह उसे भी फोड़ देती। स्वयंसेवक पानी आते ही एक साथ पानी पी लेते थे, पर त्रास के इस वातावरण में वे भी अडिग थे और कासिम अली भी। कमल बिहारी जी ने हाय-हाय के नारे का असर न पड़ते देख कर नये नारे का आविष्कार किया—कासिम अली हाय-हाय। तीबा-तीबा। सचमुच कासिम अली इससे परेशान हो गया और दौड़ा-दौड़ा कलक्टर के पास गया। वह अपनी फौजफरा लेकर सनहा आया। वह और करता भी क्या। नारा लगाते स्वयंसेवक बुरी तरह पीटे गये, लहलुहान हो गये, पर नारा जारी रहा। किसी भी स्वयंसेवक के शरीर पर कोई बिना फटा वस्त्र नहीं रहा था, ओढ़ने-बिछाने की तो बात अलग, पानी पीने का बर्तन नहीं था, भोजन की नियमित व्यवस्था नहीं थी, सर्दी शरीर को



चीरने वाली थी, घर से वे दूर थे, परिणाम कुछ सामने नहीं था, फिर उनकी दृढ़ता किस आधार पर टिकी हुई थी ? उसका आधार था गोरखपुर के कलंक को धोने की गैरत, उसका आधार था उत्तर प्रदेश के झण्डे को देश के दूसरे सूबों के झण्डों से नीके न होने देने की भावना ।

कासिम अली के लिए यह नारा असह्य होने लगा, वह भी आखिर मनुष्य था, उसकी आत्मा स्वयंसेवकों के कष्ट सहने से कांपने लगी । तभी उसके घर में एक मृत्यु हो गयी और बाहर-भीतर हाय ही हाय मच गयी । उसके भीतर अत्लाह की रोशनी जागी । वह दौड़ा-दौड़ा बाबा राघवदास के पास पहुंचा, उसने अपनी भूल की क्षमा मांगी, तोबा की । सत्याग्रह 45 दिन चलकर बन्द हो गया ।

ये हुई कुछ मुख्य घटनायें, पर ये ही नहीं हैं, ये तो घटनाओं के ढेर की बानगी हैं, पूरा उत्तर प्रदेश उफन उठा था और ऐसा एक भी जिला न था, तहसील न थी, जहाँ नमक कानून नहीं टूट रहा था, शराब, विदेशी वस्त्र पर पिकेटिंग—धरना नहीं दिया जा रहा था, जलसे-जुलूसों की भरमार नहीं थी, गली-कूचे देशभक्ति के गीतों और नारों से नहीं गूँजते थे और गिरफ्तारियाँ 'एवं लाठी-चार्ज' नहीं हो रहे थे । ऐसा लगता था कि पूरा उत्तर प्रदेश 1857 के सशस्त्र विद्रोह की तरह अहिंसक विद्रोह के लिए भी उठ खड़ा हुआ है । उत्तर प्रदेश के नेताओं का नेतृत्व शानदार था, तो स्वयंसेवकों और कार्यकर्त्ताओं का बलिदान आनवान वाला था । कहीं किसी को थकान न थी, कहीं किसी को कल की चिन्ता न थी । सरकार एक को गिरफ्तार करके जेल भेजती थी, दो उसकी जगह लेने को आगे बढ़ते थे । परेशानी सरकार को थी, कांग्रेस को नहीं ।

सरकार की यह परेशानी सामने आयी और सामने आयी थी उत्तर प्रदेश में ही । 27 जुलाई, 1930 को सर तेज बहादुर सप्रू और डा० मुकुन्द राव जयकर नैनी जेल में पंडित मोतीलाल नेहरू और पंडित जवाहर लाल नेहरू से मिले और सरकार—कांग्रेस के बीच समझौते की बात की । सप्रू के मन पर यह छाप पड़ी कि बाप-बेटा दोनों के ही दिमाग में समझौते का खयाल तक नहीं है और गांधी जी से बिना मिले ये एक भी शब्द ऐसा नहीं कह सकते जिससे बात आगे बढ़े ।

वायसराय लार्ड इरविन और आगे बढ़े । शीघ्र ही एक स्पेशल ट्रेन इलाहाबाद के स्टेशन पर लगी । उसमें एक शाही सैलून था, एक गाड़ का डब्बा और बस एंजिन । इसमें पंडित मोतीलाल नेहरू और पंडित जवाहर लाल नेहरू बस दो ही मुसाफिर चढ़े और पूना पहुंचे । यरवदा जेल में नेताओं की बातचीत हुई, पर वे वहाँ तक झुकने को तैयार न थे जहाँ तक वायसराय आ सकते थे और वायसराय वहाँ तक बढ़ने को तैयार न थे जहाँ तक ये झुक सकते थे । समझौते की बात टूट गई ।

पंडित मोतीलाल नेहरू का स्वास्थ्य गिरता जा रहा था, संभल नहीं रहा था, पर



उन्होंने अस्वस्थता के आधार पर छूटने का प्रस्ताव मंजूर नहीं किया। स्वास्थ्य और गिरा और वे 11 सितम्बर, 1930 को छोड़ दिए गए। वे अपनी पत्नी और दोनों बेटियों के साथ मंसूरी चले गए। 11 अक्टूबर, 1930 को जवाहर लाल जी भी जेल से छूट आये। उत्तर प्रदेश उफन रहा था और वह आन्दोलन का अगला उग्र कदम उठाने को कसमसा रहा था। उन्होंने प्रांतीय कांग्रेस समिती की मीटिंग बुला कर उसे गाँवों में कोई भी कर न देने का आन्दोलन अपने हाथ में लेने की प्रेरणा दी और 19 अक्टूबर, 1930 को इलाहाबाद में किसान सम्मेलन बुलाने का फैसला किया।

पंडित जवाहर लाल और कमला जी मंसूरी गए और तीन दिन सब साथ रहे। किसान सम्मेलन में हिस्सा लेने को जवाहर लाल जी और कमला जी इलाहाबाद लौटे और परिस्थितियों को भांप कर पंडित मोतीलाल जी भी 19 अक्टूबर को इलाहाबाद आ गये। स्टेशन पर जवाहर लाल जी और कमला जी उन्हें मिले और सीधे किसान सम्मेलन में चले गए। सम्मेलन बहुत ही सफल रहा और किसानों को इससे नई ताजगी मिली, पर शाम को जब जवाहर लाल जी और कमला जी सम्मेलन से लौट रहे थे, आनन्द भवन के बिल्कुल पास उनकी मोटर रोककर जवाहर लाल जी को गिरफ्तार कर लिया गया।

मोतीलाल जी पर इसका यह प्रभाव पड़ा कि उनका स्वास्थ्य कुछ संभल गया, मुँह से खून गिरना बन्द हो गया और उन्होंने अब “अपाहिज बनकर न रहने की” बात कहकर आन्दोलन की बागडोर फिर संभाल ली। उन्होंने जवाहर लाल जी को दी गई ढाई साल की वहशियाना सजा का विरोध करने के लिए देश भर में 14 नवम्बर, 1930 को जवाहर-दिवस मनाने का निर्देश दिया। देश भर में उस दिन जगह-जगह सभायें हुयीं और उत्तर प्रदेश में भाषणों और प्रदर्शनों ने उस दिन बहुत ही तेजस्वी रूप लिया। इलाहाबाद में शानदार जुलूस निकला। इसमें माता स्वरूप रानी, विजयलक्ष्मी पंडित, कृष्णा हठीसिंह तो पैदल चलीं ही, 13 वर्ष की इन्दिरा भी हाथ उठा कर और मुट्ठी बाँध कर जोश के साथ नारे लगाती दिखाई दी। कमला जी ने जलसे में जवाहर लाल जी का वह राजद्रोही भाषण पूरा पढ़ा, जिस पर उन्हें यह लम्बी सजा दी गयी थी। उत्तर प्रदेश में उस दिन खूब लाठी-चाज हुए और खूब गिरफ्तारियों की धूम मची।

इलाहाबाद के किसान सम्मेलन का उत्तर प्रदेश के सत्याग्रह पर बहुत अच्छा असर पड़ा। इस सम्मेलन में सरकार को लगान या दूसरे कर न देने का प्रस्ताव पास हुआ था। कांग्रेसी अखबार उन दिनों बन्द थे। जो निकलते थे वे विद्रोह की गरम खबरें छापते डरते थे। कांग्रेस के बड़े दफ्तरों की भी हालत ऐसी न थी कि जनता तक वे अपना ताजा सम्बन्ध बनाये रखें। सरकार चौकशी थी, इसलिए डाक द्वारा सन्देश भेजना सम्भव ही न था। किसान सम्मेलन ने यह समस्या हल कर दी, क्योंकि उत्तर प्रदेश के काफी जिलों से किसान प्रतिनिधि इस सम्मेलन में आये थे, वे करबन्दी के प्रस्ताव तो साथ ले ही गए, जवाहर लाल जी के भाषण और उनकी गिरफ्तारी से जो उत्तेजना पैदा हुई थी, वह भी गाँव-गाँव पहुंच गयी। इसका



नतीजा यह हुआ कि इलाहाबाद में तो पूरी तरह करबन्दी हो ही गयी, पर सूबे के दूसरे हिस्सों में भी सत्याग्रह ने करबन्दी आन्दोलन का रूप ले लिया।

आन्दोलन में जैसे ही गरमी आई, सरकारी दमन भी उग्र हो गया। कई कांग्रेस कमेटियों को गैर-कानूनी घोषित किया गया और जेलों में भी कांग्रेसी कैदियों के साथ सख्ती बढ़ गयी, इतने मामूली अपराधों पर कांग्रेसी कैदियों, खासकर छोटी उम्र के कैदियों को बेंत लगाने की सजा इतनी अधिक दी गयी, जितनी पहले कभी नहीं दी गयी थी। मालवीय जी महाराज ने इसकी शिकायत में एक पत्र उत्तर प्रदेश के गवर्नर को लिखा और जवाहर लाल जी ने तो 72 घंटे का अनशन भी किया। तब इस जंगली प्रथा पर कुछ रोक लगी—वायस-राय की सरकार ने उत्तर प्रदेश सरकार को इस बारे में आदेश दिया कि बेंत न लगाये जायें।

फिर स्वास्थ्य गिर जाने से मोतीलाल जी चिकित्सा के लिए 17 नवम्बर को कलकत्ते गए। सारा परिवार उनके साथ था। वस कमला जी इलाहाबाद में बैठी आन्दोलन के कुण्ड में नई-नई समिधायें डाल रही थीं। एक जनवरी, 1931 को कमला जी गिरफ्तार कर ली गयीं और बीमार मोती लाल जी इलाहाबाद लौट आये। 25 जनवरी, 1931 को कांग्रेस कार्य समिति के सभी सदस्यों और स्थानापन्न सदस्यों को जेलों से छोड़ दिया गया। असल में सरकार आन्दोलन के उग्र रूप से घबरा रही थी और किसी भी तरह उसे रोकना चाहती थी। इसी बीच लन्दन में गोलमेज कान्फ्रेंस हुई थी। उसमें कुछ सरकार-प्रिय लोग ही शामिल हुए थे और उन्होंने कुछ गुलायम फंसले किए थे। सरकार ने नेताओं को छोड़ने का यह बहाना किया कि वह चाहती है, कांग्रेस के नेता भी उन फंसलों पर विचार करें।

उत्तर प्रदेश का इलाहाबाद अब धर्म और राजनीति दोनों का संगम एक साथ हो गया, क्योंकि जेल से छूटने वाला हरेक नेता अब इलाहाबाद पहुंच गया था। मोतीलाल जी के सबसे पूज्य व्यक्ति गांधी जी और सबसे प्रिय व्यक्ति जवाहर लाल उनके पास थे। पंडित मोती लाल जी का मुँह सूजा हुआ था। मृत्यु सामने खड़ी थी, पर उनकी सजीवता सबको मुग्ध करने वाली थी। 31 जनवरी और एक फरवरी, 1931 को आनन्द भवन में ही कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई। उसमें आन्दोलन बन्द करने का स्पष्ट आदेश मिलने तक उसे शांतिपूर्वक जारी रखने का प्रस्ताव पास हुआ।

ऐकसरे की विशेष चिकित्सा के लिए 4 फरवरी को डाक्टर लोग मोती लाल जी को लखनऊ ले गए और वहाँ 6 फरवरी, 1931 को उनकी मृत्यु हो गयी। उनके अन्तिम शब्द थे—“हिन्दुस्तान की किस्मत का फैसला स्वराज्य भवन में ही करो। मेरी मौजूदगी में ही फैसला कर लो। मेरी मातृभूमि के भाग्य-निर्णय के आखिरी सम्मानपूर्ण समझौते में मुझे भी साक्षीदार होने दो। मुझे मरना ही है तो आजाद हिन्दुस्तान की गोद में ही मुझे मरने दो। मुझे अपनी आखिरी नींद गुलाब देश में नहीं, बल्कि आजाद देश में लेने दो।”

मोतीलाल जी की मृत्यु से उत्तर प्रदेश में शोक छा गया, पर यह शोक एक जीवित जाति का शोक था, जिसमें गुलामी का कड़वा बोझ और उसके प्रति कुछ कर गुजरने वाला



आक्रोश भी था। हजारों जुलूस निकले, हजारों जलसे हुए और घरना-सकत हो गया। उत्तर प्रदेश में सत्याग्रह इन दिनों अपने पूरे जलाल में था, जोवन पर था। उत्तर प्रदेश का रोम-रोम आजादी की भावना से उल्लसित था। पुलिस भी खूब लाठियाँ चला रही थी और हथकड़ियाँ पहना रही थी।

गांधी जी 17 फरवरी, 1931 को "बहेसियन एक मनुष्य" के वायसराय लार्ड इरविन से मिले। वाद में कई मुलाकातें हुईं और 5 मार्च, 1931 को गांधी-इरविन समझौता हो गया। सब कैदी छोड़ दिए गए। उत्तर प्रदेश के गाँव-गाँव, कस्बे और शहर के लोग जेल गए थे, इसलिए जब वे जेलों से छूट-छूट कर अपने-गाँव-कस्बे-नगर में पहुँचे, तो सभी जगह खुशियों के फूल उग आये। अंग्रेजी गुलामी के इतिहास की यह पहली विजय थी। उत्तर प्रदेश ने पूरे मन से विजयोत्सव मनाया और अपने वीरों के सम्मान में खूब फूल बरसाये।

\* \* \*



## 15 : समझौते से संघर्ष की ओर

लार्ड इरविन चले गये और 17 अप्रैल, 1931 को नये वायसराय लार्ड विलिंग्डन ने पद संभाल लिया। गांधी-इरविन समझौते में एक बहुत बड़ी बात थी कि ब्रिटिश सरकार ने बिना एक शब्द कहे-लिखे भी यह मान लिया था कि एक तरफ हिन्दुस्तान की प्रतिनिधि कांग्रेस है, दूसरी तरफ अंग्रेज सरकार। मतलब यह कि बीच में कोई साम्प्रदायिक शक्ति नहीं है। इसी का फल था कि समझौता होते ही सर शफी जैसे घोर साम्प्रदायिक मुसलमानों ने दिल्ली में एक सभा बुलाई और गांधी जी का अभिनन्दन किया। ये लोग हिन्दू-मुस्लिम एकता के जाने कितने प्रयत्नों को चीपट कर चुके थे, समझौता करने को उत्सुक हो उठे। धूर्त अंग्रेजी राजनीति के लिए यह एक खतरा था और इसीलिए अंग्रेजी हुकूमत की अफसरशाही समझौते के हाथ-पैर तोड़ने में जुट गयी। लार्ड विलिंग्डन उसी तोड़-फोड़ के प्रतिनिधि थे।

समझौते की बात-चीत में यह भी बात थी कि चीजों के भावों में गिरावट होने के कारण किसान घोर आर्थिक संकट से गुजर रहे हैं, इसलिए वे अधिक से अधिक जितना लगान दे सकें, उतना दे दें। मतलब यह था कि उनसे पूरा लगान देने के लिए सख्ती नहीं की जायगी। बारडोली और उत्तर प्रदेश में इस प्रश्न ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। गांधी जी ने वायसराय को लिखा कि पंच बैठकर स्थिति की जांच की जाये, पर सरकार तैयार न हुई। गांधी जी ने 13 अगस्त, 1931 को गोलमेज कान्फ्रेंस में जाने से मना कर दिया। वायसराय इरविन का यह वादा कि डाक्टर अंसारी को भी गोलमेज कान्फ्रेंस में प्रतिनिधि बनाया जायेगा, लार्ड विलिंग्डन ने तोड़ दिया। यह एक गहरी चाल थी, क्योंकि कि डाक्टर अंसारी के न जाने से गोलमेज कान्फ्रेंस साम्प्रदायिक मुसलमानों का अखाड़ा बना दी गयी। इतिहास की गहराई यह है कि अंग्रेजी कूटनीति, सर सैयद अहमद के रूप में देश के भावी बंटवारे की जो नींव पहली शताब्दी में ही रख चुकी थी, यह उस पर एक नया रद्दा था। डाक्टर अंसारी का गोलमेज में होना और गांधी जी के विचारों का समर्थन करना, इस रद्दे को कमजोर कर देता। फिर भी गांधी जी और वायसराय की जो मुलाकात हुई, उसके कारण गांधी जी 29 अगस्त, 1931 को पानी के जहाज द्वारा गोलमेज कान्फ्रेंस में शामिल होने चले गये।



उनके जाने के बाद उत्तर प्रदेश में किसानों का प्रश्न और भी गरम हो उठा। यह प्रान्त राजाओं और ताल्लुकेदारों का प्रान्त था। ये लोग, कुछ राष्ट्रीय विचारों के लोगों को छोड़कर अमृतौर पर किसानों के प्रतिकूल थे। इन लोगों ने लगान वसूल करने में नरमी का नाम भी नहीं आने दिया और कई क्षेत्रों में तो इन लोगों ने अपने अत्याचारों से आतंक की ही स्थिति पैदा कर दी। किसानों की पुकार सूबा कांग्रेस कमेटी तक पहुंची। कांग्रेस ने जांच-पड़ताल करने के लिए कांग्रेस कार्यकर्ताओं की कई जाँच कमेटियां कायम कीं।

इन कमेटियों की रिपोर्टों ने कांग्रेस को घर्मसंकट में फँसा दिया। एक तरफ तो ये रिपोर्ट अत्याचारों के क्रूर वर्णन से भरी हुई थीं और कुछ करने की माँग कर रही थीं। दूसरी तरफ कांग्रेस यह नहीं चाहती थी कि समझौता टूट जाये और उसका कलंक उत्तर प्रदेश के सिर मढ़ा जाये। यह घर्मसंकट इस बात से और भी कड़वा हो गया कि किसान कांग्रेस के साथ थे, उनके हुकम पर मरने-जीने को तैयार थे और बार-बार यह पूछ रहे थे कि हम क्या करें? कांग्रेस उन्हें पूरा लौगान देने को इसलिए नहीं कह सकती थी, क्योंकि यह उनकी हिम्मत से ही बाहर था। इतना लगान देना उनका तबाह हो जाना था और लड़ने को इसलिए नहीं कह सकती थी, क्योंकि इससे समझौता टूटने का डर था, पर वह चुप भी कब तक रहती।

उत्तरप्रदेश कांग्रेस के नेताओं ने कांग्रेस के अध्यक्ष सरदार पटेल के सामने यह प्रश्न रखा और उनकी स्वीकृति से किसानों को यह सलाह दी कि वे लगान और मालगुजारी दोनों का चुकाना समझौते की बातचीत पूरी होने तक मुलतवी कर दें। कांग्रेस ने साफ-साफ यह भी कह दिया कि वह सुलह-समझौते की बात करने को तैयार है और किसानों की शिकायत दूर होते ही अपनी सलाह वापस ले लेगी सरकार ने चाहा कि कांग्रेस पहले अपनी सलाह वापस ले ले, तब सुलह की बातचीत आरम्भ हो। कांग्रेस के लिए यह प्रतिष्ठा की बात थी कि उसके उचित परामर्श को समझौते के दिनों में भी सरकार ने ठुकराया। उत्तर प्रदेश कांग्रेस ने अपनी इस राय को दोहरा दिया कि समझौते की बात होने तक किसान लगान-मालगुजारी देना मुलतवी रखें।

सरकार की अफसरशाही गुस्से से भर उठी। वह शुरू से ही समझौते से अपनी बेइज्जती महसूस कर रही थी और सरकार का ऊँचा वर्ग भी समझौते के दुष्प्रभावों को आँक रहा था। उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारियाँ जिस झपाटे के साथ हुई, उसकी उपमा भविष्य में 9 अगस्त, 1942 को झपाटेदार गिरफ्तारियों से ही की जा सकती है। इतने नेताओं की गिरफ्तारियों से उत्तर प्रदेश का आम कांग्रेसी, गरमा उठा और अनेक जिला कांग्रेस कमेटियों ने सूबा कांग्रेस कमेटी से खुला सत्याग्रह छेड़ देने की आज्ञा मांगी। गांधी जी को इन सब बातों की सूचना लंदन भेज दी गयी।

गांधी जी उत्तर प्रदेश की किसान-समस्या से परिचित ही थे। जबदस्ती लगान वसूली के कारण और अपनी मजबूरी में लगान न दे सकने के कारण जब हजारों किसान बेदखल हो गए थे तो कुछ मार-पीट भी हुई थी। इसमें जमींदारों के कुछ कर्मिन्दे मर गए थे। जवाहर



लाल जी ने ठीक ही लिखा है कि किसी दूसरे देश में तो इन परिस्थितियों में भयानक किसान विप्लव हो सकता था। किसानों का अहिंसात्मक बने रहना, कांग्रेस के आन्दोलन का ही फल था। मामला इतना महत्वपूर्ण था कि स्वयं गांधी जी इसके लिए गोलमेज कांग्रेस में जाने से पहले यू० पी० के गवर्नर सर मालकम हेली से मई, 1931 में मिले थे, पर उसका खास नतीजा नहीं निकला। जो छूट किसानों को दी गयी, उससे उम्मीदें बहुत ऊपर थीं और उनकी आर्थिक परिस्थितियां बहुत नीचे।

अकेले इलाहाबाद जिले में ही हजारों किसान बेदखल किये गये और हजारों पर अग्नी और मुकदमे चल रहे थे। इससे ही अन्दाज होता है कि ताल्लुकेदारियों में उनकी क्या हालत होगी? किसानों पर अत्याचार नई बात न थी, इसलिए उन्हें अत्याचार सहने की आदत-सी हो गयी थी, पर 1930 में कांग्रेस ने जो घर-घर प्रचार किया, उससे उनमें राजनीतिक चेतना पैदा हो गयी थी और वे अब अपनी मुसीबतों को ईश्वर या भाग्य की बात मानने को तैयार न थे, उन्हें आदमियों की बरपा की गई मुसीबत मानते थे, इसीलिए उनसे छुटकारा पाने को कसमसा रहे थे।

एक दिसम्बर, 1931 को लन्दन में गोलमेज कांग्रेस समाप्त हुई। गांधी जी जब परिषद के सभापति को धन्यवाद देने खड़े हुए तो उनके मन में उत्तर प्रदेश की और दूसरी अनेक घटनायें उमड़ रही थीं। उन्होंने कहा--“मनुष्य स्वभाव का गौरव तो इसमें है कि हम जीवन में आने वाली आंधियों से टक्कर लें। मैं नहीं जानता कि मेरा रास्ता किस दिशा में होगा, लेकिन इसकी मुझे चिन्ता नहीं है।” जब 28 दिसम्बर, 1931 को गांधी जी बम्बई पहुँचे, परिस्थितियाँ संघर्ष की थीं और उत्तर प्रदेश में तो वह संघर्ष आरम्भ हो चुका था; बस फट पड़ने को, जैसे बेचैन ही था। फिर भी गांधी जी ने बम्बई में उतरते ही कहा--“मैं शांति के लिए अपने बस भर कोशिश करूँगा और अपनी तरफ से कोई बात उठा न रखूँगा।”

गांधी जी ने वायसराय से मिलने का समय मांगा, पर वे अकड़े रहे। कांग्रेस कार्य-कारिणी ने सत्याग्रह का जो प्रस्ताव पास किया, उसमें उत्तर प्रदेश की परिस्थितियों का विशेष उल्लेख था। सचचाई यह है कि 1932 में उत्तर प्रदेश का आन्दोलन ही देश का आन्दोलन हो गया था। इसके लिए कुछ लोगों ने उत्तर प्रदेश के नेतृत्व की आलोचना की थी, पर ये वे लोग थे जो उत्तर प्रदेश की परिस्थितियों से अपरिचित थे।

• • •



## 16 : फिर बाजी रणभेरी

- \* चार जनवरी, उन्नीस सौ बत्तीस, सुबह ही सुबह गांधी जी गिरफ्तार कर लिए गए।
- \* चार मार्च, उन्नीस सौ इकत्तीस की रात में गांधी-इरविन समझौता हुआ था।
- \* नौ महीने, चार विन समझौते और संघर्ष की आखमिचौनी के बाद फिर संघर्ष आरम्भ।
- \* किसी और प्रान्त को भले ही समझौते के इन दिनों में कुछ चैन मिली हो, उत्तर प्रदेश का संघर्ष तो एक दिन के लिए भी बन्द नहीं हुआ।
- \* आरामकुर्सी को राजनीति के खिलाड़ियों ने कड़ी और कड़वी आलोचना की कि उत्तर प्रदेश ने ही यह नया संघर्ष कांग्रेस पर थोपा।
- \* यह कहने वाले यह भूल गए कि कांग्रेस के साथ पूरे देश के सम्बन्ध में समझौता करना ब्रिटिश सरकार के हितों के विरुद्ध था। समझौता होते ही उसके विशेषज्ञों ने यह बात साफ कह दी थी। इसलिए समझौते को तोड़ना ही उसके हित में था। लार्ड विलिंगडन इसी हित के प्रतिनिधि थे। उनकी सच्ची एक व्यक्ति की सख्ती न थी, एक नीति की सख्ती थी।
- \* समझौता रात के अँधेरे में हुआ था, संघर्ष प्रभात के प्रकाश में आरम्भ हुआ। नम्रता से कहना चाहिए कि उत्तर प्रदेश का मानस पल भर को भी अन्धकार में नहीं डूबा, उसकी आँखों में प्रकाश सदा जागता रहा।
- \* ऐसा न होता, तो 1932 के संघर्ष में उत्तर प्रदेश पहले ही विन पिट जाता।
- \* संघर्ष आरम्भ होते समय उत्तर प्रदेश की वही स्थिति थी, जो 18 जून, 1858 को अन्तिम समय शांति की रानी लक्ष्मी बाई की थी, कि आधा सिर कट गया।



था, बाहिनी आँख बाहर आ गई थी, पर हृदय पूर्ण स्वस्थ था और वह तलवार चला रही थीं।

उत्तर प्रदेश के प्रमुख नेता, रफी अहमद फिदवाई, पुरुषोत्तम दास टंडन आदि पहले ही गिरफ्तार हो चुके थे और जवाहर लाल नेहरू एवं तसद्दुव अहमद खाँ मेरवानी गांधी जी से मिलने के लिए बम्बई जाते हुए ट्रेन को एक छोटे-से स्टेशन पर रोककर गिरफ्तार कर लिए गए थे। इस प्रकार उत्तर प्रदेश का मस्तिष्क जेलों में था, पर उसका हृदय (देहातों और जिलों में फैले हुए कार्यकर्ता) इतना जागृत और चेतन था कि संघर्ष की रणभेरी बजते ही उत्तर प्रदेश मोर्चे पर जम गया और उसने दुश्मन को बहुत शानदार टक्कर दी।

शिमला में वायसराय की सरकार के एक बड़े अफसर ने जवाहर लाल जी से कहा था—“राजनिति के सबाल को छोड़ दें तो भी कांग्रेस ने हिन्दुस्तान की बड़ी भारी सेवा की है। हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध आम तौर पर यह इलजाम लगाया जाता है कि वे अच्छे संगठनकर्ता नहीं हैं, मगर 1930 में कांग्रेस ने भारी फठिनाइयों और विरोधों के होते हुए भी एक आश्चर्यजनक संगठन कर दिखाया था।” बिना किसी अतिशयोक्ति और पक्षपात के यह कहा जा सकता है कि इस आश्चर्यजनक संगठन का एक गौरवपूर्ण भाग उत्तर प्रदेश ने प्रदर्शित किया था।

जो भी हो, रणभेरी फिर बज उठी और ठंडे मोर्चे फिर गरमा गए। 1930 में सरकार के व्यवहार में जो नरमी थी, वह जुलूसों और जलसों को सह लेती थी, पर 1932 की सख्ती दमघोटू थी, उसमें प्रदर्शनों की गुंजाइश ही न थी, पर आन्दोलन 1932 में 1930 से हटकर प्रबल था। हाँ, 1930 में विस्तार था, 1932 में गहराई अधिक थी। वायसराय के सचिवालय की यह बाणी किसी तरह बाहर आ गई थी कि छः सप्ताह में आन्दोलन को कुचल दिया जायेगा।

लार्ड विलिंगडन साधारण कानूनों से नहीं, आर्डिनेन्सों से हुकूमत कर रहे थे। पहले ही झटके में उन्होंने सात आर्डिनेन्सों का नगाड़ा बजाया था। उत्तर प्रदेश का उनके मन पर कितना आतंक था, इसका पता इसी से चलता है कि उनके सभी आर्डिनेन्स देश के दूसरे हिस्सों की तरह उत्तर प्रदेश पर भी लागू थे, पर एक आर्डिनेन्स सिर्फ उत्तर प्रदेश के लिए ही बनाया गया था “उत्तर प्रदेश इमर्जेंसी आर्डिनेन्स”।

उत्तर प्रदेश की जिल्ला कांग्रेस कमेटियाँ गैर कानूनी करार दे दी गयीं, उनके दफ्तरों पर ताले डाल दिए गए, सम्पत्ति जब्त कर ली गयी और रचनात्मक कार्यक्रम करने वाले आश्रम भी बन्द कर दिए। नगरों-कस्बों का उत्तर प्रदेश दफा 144 से जकड़ दिया गया, जहाँ न जुलूस निकल सकें, न जलसे ही हो सकें। कुछ समाचार पत्रों से भारी-भारी जमानतें मांगी जिन्होंने दीं, उनकी जमानतें जब्त कर ली गयीं। नतीजा यह हुआ कि सभी राष्ट्रीय समाचार



पत्र बन्द हो गए, और जो निकलते रहे, उनमें आन्दोलन की खबरें छापने का दम न रहा। मगलव यह कि कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं को जनता से काट कर दूर रखने के सभी प्रबन्ध किए गए, पर उत्तर प्रदेश में कांग्रेस का संगठन जनता तक पहुंचा हुआ था, और इसका कोई उपाय सरकार के पास न था।

कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं ने जब आश्रमों, दफ्तरों पर शानदारा धावे किए। ये धावे प्रदर्शन ही थे, क्योंकि कार्यकर्त्ता पुलिस को चकमा देकर भीतर जरूर घुस जाते थे, नारे लगाते थे, कभी-कभी झण्डा फहराने में भी कामयाब हो जाते थे, पर कब्जा तो पुलिस का ही रहता था, फिर भी इसका जनता पर यह असर पड़ता था कि कार्यकर्त्ता बहादुर हैं, पुलिस से डरते नहीं। भीड़ जुट जाती थी, नारे लगते थे, पुलिस झपटती थी। जनता पर यह प्रभाव तब और भी गहरा हो जाता था, जब कब्जा करने वालों पर लाठी चार्ज होता था। पूरे जोर से डण्डे पड़ते, सिर फूटते, हड्डियां टूटतीं, खून बहता, पर पिटने वाले इन्कलाब जिन्दाबाद के नारे मारते, भारत माता और महात्मा गांधी की जय बोलते और टोड़ी बच्चा हाय-हाय भी गुंजाते। तब तो और भी मजा आता जब वे पिटते-पिटते गाने लगते कि—“नहीं रखनी सरकार, भाइयों नहीं रखनी।” या फिर गाते—“सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।” पुलिस वाले यह सब आश्चर्य से देखते ही रह जाते। जनता तो मुग्ध हो ही जाती।

समाचारपत्र ती बन्द थे, पर साइक्लोस्टाइल और हाथ से लिखे पत्र कई जगह निकलते थे, इन पत्रों में भड़काने वाली सामग्री होती थी, पर इनके दफ्तर कहाँ हैं, और सम्पादक कौन हैं, इसका पता सरकार को नहीं चलता था। 1932 के आन्दोलन में जिले-जिले में निकलने वाले पत्र तो अनेक थे ही, पर उत्तर प्रदेश का डुलेटिन तो गजब ही ढा रहा था। वह नियमित रूप से पन्द्रहवें दिन निकलता था और उसमें कांग्रेस के स्तर की राजनैतिक सामग्री होती थी। पुलिस के लिए यह सरदर्द था, क्योंकि बड़े अंग्रेज अफसरों की बार-बार लताड़ खाकर भी पुलिस और सी० आई० डी० इसका भेद न पा सकी।

बात यह थी कि पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन,' पुरुषोत्तम दास टण्डन, बाबू सम्पूर्णानन्द और रफी साहब वरेली जेल में थे। नवीन जी, टण्डन जी और बाबू जी लिखते थे और रफी साहब उसे बाहर भेजते थे, वह बरेली से कित्ती और जिले में पहुंचकर साइक्लोस्टाइल पर छपता था और चुने हुए पत्रों पर जिलों में पहुंचता था। एक इखलाकी कैदी उसे वार्डर को देता था और वार्डर उसे बाहर ले जाता था, कागज देकर वह रसीद लाता था और रफी साहब से वीस रुपये पाता था। हरेक लिफाफे पर उसके वीस रुपये बंधे थे। वह कैदी इतना पक्का था कि एक बार उसे जेलर ने भांप लिया तो बह्र स्पष्ट कर ग्राखाने में चला गया और उस कागज को खा गया, तलाशी में कुछ नहीं मिला। ये अखबार देखने में मामूली थे, पर सरकार इनसे धर्मों की तरह घबराती थी।

एक और चीज थी जिससे उत्तर प्रदेश की सरकार परेशान थी। हाथ-लिखे पोस्टर सुबह ही सुबह किसी नगर-कस्बे की दीवारों पर चिपके मिलते कि फलां तारीख को जिला,



तहसील या मण्डल कान्फ्रेंस होगी। पुलिस कस्तूरी मृग की तरह उड़ी फिरती कि कान्फ्रेंस किस स्थान पर होगी? उसकी परेशानी का फायदा उठाकर कोई धीरे से बात फैला देता कि कान्फ्रेंस अमुक चौक में होगी। फिर दूसरी बात फैलती कि कान्फ्रेंस अमुक चौक में नहीं, अमुक मैदान में होगी। चौक और मैदान में काफी दूरी होती। पुलिस दोनों जगह घेरा डालकर बैठ जाती, पर ठीक समय पर कान्फ्रेंस किसी तीसरी जगह पर आरम्भ हो जाती। नारे गूँजते, लोग आस-पास आ जाते, भाषण होते, पुलिस खबर पाकर ताबड़तोड़ भागी आती, पर तब तक भाषणकर्त्ता कहीं चले भी जाते और कभी-कभी गिरफ्तार भी हो जाते।

1932 के आन्दोलन में तार काटने, रेल की जंजीर खींचने, टिकट न देने के काम भी हुए। तार काटना तो अन्त तक जारी रहा, पर बाकी बातें नहीं चले।

अप्रैल, 1932 में गैर-कानूनी कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली में हुआ। मालवीय जी महाराज सभापति चुने गए, पर उन्हें दिल्ली पहुँचने से पहले ही किसी स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिया गया। फिर भी चाँदनी चौक में निश्चित तिथि पर अधिवेशन हुआ। उत्तर प्रदेश ने शान्तदार काम किया कि काफी प्रतिनिधि भेजे। यह आसान काम न था, क्योंकि दिल्ली पहुँचने वाली हर सड़क पर पुलिस और सी० आई० डी० का जाल बिछा हुआ था। एक ही घटना से इस काम की कठिनाई का पता चलेगा। ठाकुर मलखान सिंह एक पर्देदार मोटर में बीमार बेगम साहूबा बनकर अलीगढ़ से दिल्ली पहुँचे। उनका निजी सचिव बना हुआ स्वयंसेवक हर पुलिस चौकी या थाने पर गाड़ी रोकता, गिलास में पानी लाता, कोई पुड़िया पर्दे में देता और नाटक यह होता कि बेगम की हालत खराब है।

20 सितम्बर, 1932 को गांधी जी ने इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री रैम्जे मकडोनाल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। इस निर्णय के द्वारा अंग्रेजों ने अछूतों को हिन्दुओं से अलग करके गुलामी के विरुद्ध लड़ने वाली शक्तियों को सदा के लिए तोड़ने का षड्यन्त्र किया था। गांधी जी ने अपने जीवन की वाजी लगाकर इस षड्यन्त्र को तोड़ दिया—ब्रिटिश सरकार को अपना फैसला वापस लेना पड़ा, पर छः दिनों में ही देश में अस्पृश्यता के विरुद्ध एक मानसिक क्रान्ति हो गई। उत्तर प्रदेश में हरिजन आन्दोलन ने नया रूप ले लिया। जाने कितनी हरिजन पाठशालायें खुल गईं, कितने हरिजन छात्रावास बन गये। हरिजनों के बालकों को छात्रवृत्तियाँ दी जाने लगीं और कितने ही मन्दिर उनके लिए खोल दिये गये, उत्तर प्रदेश की जेलों में जो कांग्रेसी कैदी थे, उनमें से अनेक ने गांधी जी के साथ अनशन में भाग लिया। जेल के पाखाने उन्होंने स्वयं साफ किये और सहभोज हुए। फैजाबाद जेल में उन दिनों सूखे भर के बी० बलास कैदी थे और उन दिनों जेल अधिकारी भी भले थे। वहाँ तो वे दिन एक ब्रत की तरह ही मनाये गये और अनशन पूरा होने की खुशी में जो उत्सव हुआ, उसे जिन्होंने देखा, वे कभी भूल ही नहीं सकते। ये सब लोग अपने-अपने जिले के नेता थे और जब ये लोग छूट कर अपने-अपने जिलों में गये तो वहाँ इन्होंने अस्पृश्यता पर गहरी चोटें कीं। इस प्रकार यह अनशन सामाजिक क्रान्ति का एक अध्याय ही बन गया।



उत्तर प्रदेश किसान आन्दोलन का आरम्भ से ही केन्द्र रहा था। 1931 में लगान को लेकर जो गरमी आई थी, वह 1932 में काम आई। बहुत से गाँवों ने, जहाँ आन्दोलन गहराई में पहुँची था, बिना सूबा कांग्रेस की मदद और प्रेरणा के लगानबन्दी कर दी और उसे इतनी ताकत, बर्दाश्त और योजना से चलाया कि अंग्रेजी सरकार की अफसरशाही परेशान हो गयी। गुजरों के नेता चौधरी मंगल सिंह उत्तेजना में जीने वाले आदमी थे। वे भाषणों की राजनीति से आगे बढ़े और अपने गाँव झुधला को तैयार कर उन्होंने लगानबन्दी की घोषणा कर दी। वे खुद अच्छे जमींदार थे, पर जमींदारी को देश का कलंक मानते थे। वे आगे बढ़े, तो दूसरे भी बढ़ गये और लगान मालगुजारी में सरकार को एक पैसा भी नहीं मिला। गाँव-भर के गाय, बैल, भैंस कुकुर लिये गये। गाँव में तो उन्हें लेता ही कोन, वे हाँक कर नकुड़ तहसील में लाये गये, पर वहाँ किसी भी कीमत पर किसी ने उन्हें नहीं खरीदा। तब उन्हें रुड़की छावनी में भेजा गया, पर कांग्रेस के स्वयंसेवक तो साथ थे ही और चारों ओर राजनैतिक श्वेतना इतनी प्रचण्ड थी कि वे वहाँ भी न बिके। तब उन्हें जिले में लाकर कसाइयों के हाथ बेच दिया गया। उन मूक जानवरों को क्या पता था कि वे देश के लिए कष्ट सह रहे हैं और अन्त में उसी के लिए जीवन दे रहे हैं, पर देश की मुखर आहूतियों के बीच इन मूक आहूतियों का भी तो कम महत्व नहीं।

इसी तरह एक-एक गाँव में उत्तर प्रदेश में अनेक लगान-मालगुजारी-बन्दी सत्याग्रह हुए, पर बकुलिहा के लगानबन्दी सत्याग्रह ने तो उसे यू० पी० का बारडोली ही बना दिया। किसानों ने पहला काम यह किया कि अपने खेतों की सिंचाई—देखभाल बन्द कर दी, जिससे खेतों में खड़ी फसल से सरकार कुछ वसूल न कर सके। फिर लगानबन्दी का ऐलान किया। अंग्रेज कलक्टर खुद इलाके में आया पर गाँव के लोगों का उस पर जरा भी रोब नहीं पड़ा। उसे ऐसे जवाब मिले कि वह देखता रह गया। गाँव का संगठन बड़े ढंग से किया गया। गाड़ियों में भर-भर कर कीमती सामान लोगों ने अपनी रिश्तेदारियों में भेज दिया। एक बिगुल खरीदा गया कि पुलिस आये तो बिगुल से सबको पता चल जाये। सरकार ने नेताओं को जेल में डाल दिया था, पर वहाँ तो हर आदमी ही नेता था।

अंग्रेज कलक्टर को गाँव के लोगों ने जो करारे जवाब दिए थे, उनसे वह जल-भुन गया और एक दिन पुलिस ने पूरा गाँव घेर लिया। तब अधिकारी गाँव में घुसे, पर उनका ऐसा मजाक बना कि वे झेंप-झेंप गए। गाँव का जो भी आदमी मिलता, मुस्करा कर कहता—“आप पधारें, स्वागत है। आइये, घर के किबाड़ खुले हैं।” पर घर में बाँही क्या, जिसे वे कुड़क करें? एक ब्राह्मण लोटा लेकर शीघ्र जा रहे थे। उन्हें पुलिस ने रोका तो बोले, “भरे लोटे पर आपकी निगाह हो तो इसे भी कुड़क कर लें।” एक आदमी पर थानेदार ने रोब जमाया तो उसने छाती ही खोल दी। कहा—“गोली आप भले ही मार दें, पर पैसा एक नहीं ले सकते।” तब जानवर कुकुर किए गए, पर वे किसी ने किसी दाम भी नहीं खरीदे और कसाइयों को दिए गए। गाँव से जब अधिकारी लौटने लगे, तो गाँव वालों ने उन्हें पान-सुपारी पेश कर लज्जित कर दिया।



बकुलिहा का कांग्रेस दफ्तर जल कर लिया गया, झण्डा उखाड़ा गया और चतुर्तरा तोड़ दिया गया, पर लोग नहीं झुके। यह तो ठीक ही है कि बकुलिहा एक बार पूरी तरह उजड़ गया। अंग्रेज कलक्टर ने बकुलिहा की बर्बादी का वर्णन हमारे गांवों में लोगों को डराने के लिए एक इशतहार में छपवा कर पूरे इलाके में बांटा कि जो लगानबन्दी करेगा, उसकी ऐसी ही दुर्गति होगी, पर इसका उल्टा असर हुआ और पूरे इलाके में विद्रोह खड़ा हो गया। तार काटे गए, पेड़ काटे गये और अन्त तक गिरफ्तारियों का ताँता लगा रहा। लगानबन्दी भी जगह-जगह हुई, बकुलिहावासियों ने, 1937 में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बनने पर जब सरकार ने उनके नुकसान की भरपाई करनी चाही तो, कुछ भी मुआवजा लेने से इन्कार कर दिया। यह बात पूरे उत्तर प्रदेश के लिए ही गौरव की थी।

मार्च, 1933 में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। फिर सबका ध्यान उत्तर प्रदेश की ओर गया और मालवीय जी महाराज फिर सभापति चुने गए। जेलों कांग्रेसी कार्यकर्ताओं से भरी हुई थीं। दिल्ली अधिवेशन में 500 प्रतिनिधि ही पहुंच पाये थे, पर कलकत्ता के लिए देश भर में 2,200 प्रतिनिधि चुने गए। जवाहर लाल जी की माता श्रीमती स्वरूप रानी नेहरू बूढ़ी तो थीं ही, बीमार भी थीं, पर उन्होंने घोषणा की कि मैं भी कलकत्ता कांग्रेस में भाग लूंगी। इससे प्रतिनिधियों में और भी जोश उमड़ पड़ा। सरकार ने पूरा प्रयत्न किया कि अधिवेशन न हो। स्वागत-समिति के कार्यकर्ताओं को जेल भेज दिया गया, फिर भी उत्साह ज्यों का त्यों रहा।

इस अधिवेशन के दो दृश्य सदा स्मरणीय थे। अधिवेशन के सभापति महामना मालवीय जी जिस ट्रेन से चले, उसमें उत्तर प्रदेश के प्रतिनिधि भी साथ थे। गाडी के पहिये एंजिन के बल से घूम रहे थे या उन प्रतिनिधियों के उत्साह से, कहना मुश्किल है। आसनसोल में ये सब गिरफ्तार हो गए और जेल भेज दिए गए। इस ट्रेन में जिन्होंने यात्रा की और जिन्होंने इसे देखा, वे इसे कभी नहीं भूलेंगे जेलों और लाठीचार्जों के महंजर साथ-साथ एक उद्देश्य से यात्रा कर रहे थे; उनकी गति और मति के बिन्दु एक ही थे; जैसे शंकराचार्य के आध्यात्मिक अद्वैत का यह नया राजनैतिक अद्वैत हो।

मोत की आँखों की तरह पुलिस की आँखें कांग्रेसियों को उनके नगरों-ग्रामों में, स्टेशनों पर, ट्रेनों में घूर रही थी, फिर भी ग्यारह सौ प्रतिनिधि कलकत्ता पहुंचने में सफल हो गए। श्री जे० एम० सेन गुप्ता की अंग्रेज पत्नी श्रीमती नेली सेन गुप्ता अध्यक्षता हुई। नियत स्थान पर, ठीक समय पर ये लोग पहुंच भी गए। हर गली, सड़क, चौराहे पर पुलिस थी, सी०आई० डी० पी, फिर ये कैसे पहुंचें? यह लगन थी, धुन थी, सब कुछ दांव पर लगाने की मनोवृत्ति की विजय थी। यह हमारे इतिहास की साधारण घटना न थी। जर्मनी में सत्ता पाने से पहले हिटलर ने जब रीख (संसद) के सामने प्रदर्शन करने की घोषणा की तो वहाँ की सरकार ने पुलिस को यह अधिकार दे दिया कि नाजी दल के नीला कुर्ती वाले स्वयंसेवक को देखते ही गिरफ्तार करो या गोली मार दो। फिर भी ठीक समय पर दो हजार नीली कुर्ती वाले नियत



स्थान पर पहुंच गए थे। वहाँ की सूचना को वे आगे मुकद्दामी और हिंसाओं में लिखा गया था।

हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकार ने इन 1,100 प्रतिनिधियों को इकट्ठा देखकर क्या किया? उसकी पुलिस इन पर दूट पड़ी, जैसे खरगोशों के झुण्ड पर जंगली कुत्तों की टोली दूट पड़ती है, पर उत्तर प्रदेश और दूसरे सूबों से कलकत्ता पहुंचे वे सफेदपोश खरगोश न थे, बेहोश भी न थे, वे तो आजादी के दीवाने थे, बलिदान के नशे में मस्त, पर बेहद चौकन्ने। वे मिलते ही दो घेरों में बँट गए थे, एक भीतर का घेरा, जिसके बीच में सभापति का आसन था और दूसरा बाहर का घेरा जो भीतर के घेरे को अपने घेरे में लिए हुए था।

संगठन-शक्ति का यह प्रकार वीरता के विश्वकोष में सोने के अक्षरों से लिखने लायक है। बाहर का घेरा पुलिस के शीतानी आक्रमण को झेलता रहा, उसके धक्के-मुक्के और डण्डे सहता रहा और भीतर का घेरा प्रस्ताव पास करता रहा। कुल सात प्रस्ताव पास हुए। अधिवेशन सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। सब गिरफ्तार कर लिए गए, पर बाद में सभी बन्धियों को छोड़ दिया गया। मालवीय जी और उत्तर प्रदेश के, दूसरे अनेक नेता आसनसोल से छूटते ही कलकत्ता पहुंचे और मालवीय जी ने सरकार को ललकारा कि वह अपनी पुलिस के अत्याचारों की जाँच करे। मालवीय जी महाराज देवपुरुष थे, स्वर्ग के उपवन की कोमलता से निर्मित, पर उनकी यह ललकार तो नाना साहब धुन्धुपन्त, बेगम हजरत महल, मौलवी अहमद शाह, रानी लक्ष्मी बाई, राणा बेनीमाधो सिंह के उत्तर प्रदेश की ललकार थी। कानों पर हाथ रखकर इसे अनसुनी करने में ही अंग्रेज सरकार को अपना कल्याण दीखा।

हरिजन आन्दोलन देश में सामाजिक क्रान्ति का शिलान्यास कर रहा था और उसमें बहुत से कार्यकर्ता जुट गए थे। इन कार्यकर्ताओं को प्रेरणा देने के लिए गांधी जी ने 8 मई, 1933 से 21 दिन का अनशन प्रारम्भ कर दिया। वे उसी दिन छोड़ दिए गए। उन्होंने सरकार के सद्भाव का सद्भाव से जवाब देने के लिए छः सप्ताह तक सत्याग्रह को स्थगित रखने का निर्देश दिया। कार्यकर्ता और नेता गांधी जी से मिलकर ही आगे का कार्यक्रम बनाना चाहते थे; पर गांधी जी के अनशन और बाद की कमजोरी के कारण यह सम्भव न था। इसलिए छः सप्ताह के लिए सत्याग्रह को और स्थगित किया गया। 2 जुलाई, 1933 को यह मुलाकात हुई, सत्याग्रह जारी रहा। एक अगस्त, 1933 को गांधी जी रासगाँव जाते हुए पकड़े गए। 4 अगस्त को उन्हें छोड़ा गया और कहा गया कि वे पूना ही रहें। गांधी जी ने इन्कार कर दिया, तो उन्हें एक साल कैद की सजा दी गयी, पर हरिजन सेवा की सुविधाये नहीं दी गई। उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया, तो 23 अगस्त, 1933 को उन्हें रिहा कर दिया गया।

इन दिनों में व्यक्तिगत सत्याग्रह का देश में काफी जोर रहा—खासकर उत्तर प्रदेश में। यहाँ जेलों में खूब भीड़ रही और जब 18-19 मई, 1934 को पटना में सत्याग्रह स्थगित किया गया, तब उत्तर प्रदेश में जेल जाने के उम्मीदवारों का लम्बा ब्यू लग रहा था।



पार्लियामेन्टरी बोर्ड बना दिया और नवम्बर, 1934 में केंद्रीय असेम्बली के जो चुनाव हुए, उनमें उत्तर प्रदेश में सभी साधारण सीटों पर कांग्रेसी उम्मीदवार जीत गए। मुस्लिम सीटों पर मुस्लिम पार्लियामेन्टरी बोर्ड ने कांग्रेस की सहमति से उम्मीदवार खड़े किए थे, पर कुछ लोग कांग्रेस के ही टिकट पर खड़े हुए। इनमें तसद्दुक अहमद खाँ शेरवानी की जीत शानदार रही। असेम्बली के सभापति पद के लिये कांग्रेस ने तसद्दुक अहमद खाँ शेरवानी को सरकारी उम्मीदवार के मुकाबले पर खड़ा किया, पर वे दो वोट से हार गए। कांग्रेस के नेता भूलाभाई देसाई विरोधी दल के नेता चुने गए और सरकार बार-बार हारने लगी। पहले ही सत्र में वह कोई 25-30 बार हारी। उत्तर प्रदेश के हीरामणि पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त की कानूनी बहस का लोहा देश ने इन्हीं दिनों में माना। वे विरोधी दल के उपनेता थे। इस प्रकार 1932-34 के सत्याग्रह संग्राम में उत्तर प्रदेश का योगदान शानदार रहा। यह योग स्वयंसेवकों और कार्यकर्त्ताओं के खून से लथपथ था। इस आन्दोलन में पुलिस ने लाठी-चाज के सभी पुराने रिकार्ड तोड़ दिए। हजारों लाठी-चाज हुए, पर जिन लाठी-चाजों को हम पूरी सच्चाई के साथ अमानवीय कह सकते हैं उनकी संख्या भी दो सौ से कम नहीं। उत्तर प्रदेश में अंग्रेजी सरकार के खूनी अत्याचारों की यह कहानी तब तक अधूरी है, जब तक हम यह न जान लें कि इन दिनों में उत्तर प्रदेश की जेलों में क्या हो रहा था ?

\* \* \*



## 17 : काले सीखचों के पीछे

बरेली जेल के भीतर की सड़क पर एक जुलूस आ रहा है। दो-दो की लाइन में और हर जोड़े के बीच में समान अन्तर छोड़ कर चलने वाले बीस पीली वर्दी वाले मैट ।

तब दो और कभी-कभी चार शबरे कुत्ते ।

तब सिर पर सुनहला शब्बा लगाये मुहम्मद हसन ।

उनके पीछे दो-दो की लाइन में और हर जोड़े के बीच में समान अन्तर छोड़ कर चलते बीस पीली वर्दी वाले कैदी नम्बरदार ।

ये चालीस के चालीस जन स्वस्थ, नाफ-सुथरे, पुष्ट और चिकने; सभी सन्नद्धता की मुद्रा में, सबके हाथ में एक साइज के डण्डे—इतने आज्ञाकारी और बफादार कि इशारा पाये तो कुत्तों से पहले टूट पड़ें ।

यह किसका जुलूस है ? यह कौन है मुहम्मद हसन ? क्या बरेली जिला जेल का सुपरिन्टेन्डेन्ट है ? या जेलर ?

नहीं, यह इस जेल का चीफ वार्डर है । जिला जेल में चीफ वार्डर ? हा, जिला जेलों में हेड वार्डर होते हैं, पगड़ी पर काला शब्बा लगाते हैं और सुनहरा शब्बा लगाने वाले चीफ वार्डर सेन्ट्रल जेलों में होते हैं, पर अंग्रेज सरकार ने सारे यू० पी० में अकेले मुहम्मद हसन को यह गौरव दिया है ।

तो बरेली जेल में जब चीफ वार्डर का यह रोब, यह प्रताप है तो अंग्रेज सुपरिन्टेन्डेन्ट जेलर के ठाठ क्या होंगे ?

जी, उनका कोई ठाठ नहीं, वे जेल के अधिकारी हैं; प्रति मास अपना वेतन लेते हैं, पर जेल के प्रशासन में उनका कोई हाथ नहीं । कैदियों को महीनों उनकी सूरत दिखायी नहीं देती । पूरा प्रशासन चीफ वार्डर मुहम्मद हसन ने अपने हाथ में ले लिया है । कैदियों की पेशी



उन्हीं के सामने होखे है और किसीको सपना या दृष्टि देना भी उन्हीं के हाथ में है—जेल के वे ही सर्वेसर्वा हैं।

एक वार्डर को इतने अधिकार कैसे प्राप्त हुए ? ये अधिकार उसने अपनी शक्ति से छीने और ये अधिकार उसने अपनी युक्ति से खरीदे। एक सुपरिन्टेन्डेंट को मुहम्मद हसन ने अपने प्रशिक्षित मेटों और कैदी नम्बरदारों से खुलेआम इतना पिटवाया कि फिर कभी वह जेल में नहीं आया। अब भी अंग्रेज सुपरिन्टेन्डेंट और जेलर जानता है कि मुहम्मद हसन की आँख तिरछी होते ही उस पर जूते पड़ेंगे और वह उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे; क्योंकि पूरी जेल में एक भी आदमी उसके खिलाफ गवाही नहीं देगा।

यह है उसकी शक्ति और यह है उसकी युक्ति कि उसे हर सप्ताह (अलग-अलग वक्तव्यों के अनुसार) तीन हजार रूपयों से छः हजार रूपयों तक की बँधी हुई आय है। इसमें से वह आधी आय स्वयं रखता है और आधी पद के अनुसार सुपरिन्टेन्डेंट, जेलर, दूसरे अधिकारी और वार्डरों में बाँट देता है। साथ ही अपने प्रशिक्षित बाँलों की सुख-सुविधा की व्यवस्था करता है।

एक 75 रुपये मासिक पाने वाले चीफ वार्डर को प्रति सप्ताह हजारों रुपये की आय ? जी हाँ, वह पुराणवर्णित नरक का दरोगा है, बरेली जेल उसी के कारण यू० पी० की साइबेरिया कहाती है। उसके डण्डे और हथकण्डे में ऐसी ताकत है कि फटी हुई जेब में भी नोट मिल जाते हैं और कंगाल मनुष्य भी ठनाठन रुपये गिनने लगते हैं। मुहम्मद हसन आतंक का प्रेत है।

श्री रतन लाल 'चातक' प्रदेश के तेजस्वी स्वतन्त्रता सेनानी हैं। उन्हीं के शब्द हैं—  
“हम चार आदमी बरेली जेल पहुँचे तो शाम के चार बजे होंगे। दरवाजे के बाहर ही थे कि एक वार्डर ने कहा—“रास्ते में खूब खातिरों की होंगी लोगों ने, खूब मालायें मिली होंगी और खाना-पीना मिला होगा।” मैं समझ गया कि यह हमें तोल रहा है। इसीलिए मैंने कहा—  
“अजी हमें तो यही शिकायत है कि हमारी तरफ किसी ने देखा ही नहीं।”

हम दरवाजे के भीतर थे। देखा 7-8 कांग्रेसी कैदी लाइन में खड़े हैं और सिसकियाँ भर-भर कर रो रहे हैं। उनके मुँह, हाथ-पैर और शरीर के दूसरे हिस्से सूजे हुए हैं। हमें बताया गया कि इन्होंने माफी मांग ली है। मैंने अपने मन में कहा, जो सुना था कि पीट-पीट कर बरेली में अधमरा कर देते हैं, उसी हालत में माफीनामे पर दस्तखत करा लेते हैं, यह उसी का एक नमूना है। हमें यह दृश्य दिखाने का मतलब था कि हम बरेली जेल को समझ लें। मुहम्मद हसन की शासन-नीति का सार ही था कि उनका हर कैदी हतप्रभ और डिमॉरालाइज होकर रहे और उसकी इच्छा के अनुसार काम करे।

कैदी को 'डिमॉरालाइज' करने का काम दरवाजे से ही आरम्भ हो जाता था। डाक्टर बबू गोपाल उन किशोरों और जवान युवकों के प्रतीक हैं, जिन्होंने अपनी कच्ची उभरती उम्र में



विदेशी सरकार के दारुण अत्याचार सदे हैं, पर फिर नहीं डरता। पिटाई-खिताई तो इन अत्याचारों का मंगलाचरण ही था, सर्दी की बर्फीली रातों में बिलकुल नंगे करके फाँसी की कोठरी में बन्द रखना भी कोई बड़ी बात न थी। पैरों में मतभंगा ठोक देना, खूँटे पर कमीज-कुर्ते की तरह खड़ी हथकड़ी लगाकर रात में आठ बजे से चार बजे सुबह तक टांगे रखना और हफ्तों पैरों में डंडा-बेड़ियाँ पहनाना, तनहाई काल कोठरी में बन्द रखना और टाट के कपड़े पहनना भी मामूली सजा ही कही जाती थी, कोई सख्ती नहीं। उन्हीं के शब्द हैं—“1930 में मैं नवयुवक ही था अपनी ही उम्र के चार नवयुवकों के साथ मैं बरेली जेल पहुँचा, तो दरवाजे पर ही मुझे एक वाक्य बार-बार सुनाई दिया—अवे, यह बरेली जेल है। एक लम्बा जूता भी मुझे दिखाया गया और कहा गया कि यह इस जेल का निशान है, इसे हुगेशा याद रखना। पूरा ढाँचा और वातावरण ऐसा था कि कैदी अपनी स्थिरता और रेजिस्टेन्स खोकर दीन हो जाये। इस दीनता की गहराई का नाप यह है कि पूरी जेल में कोई कैदी अपने पास वाले किसी कैदी से धीमी आवाज़ में भी नहीं बोल सकता था। पूरी जेल में चौबीसों घण्टे सन्नाटा रहता था। खास बात और कमाल की बात यह थी कि मुहम्मद हसन की निगाह हर कैदी पर रहती थी और उसका खुफिया तन्त्र इतना मजबूत था कि कैदी के छोटे-से-छोटे व्यवहार की खबर उस तक तुरन्त ही पहुँच जाती थी।”

मानना पड़ेगा कि मुहम्मद हसन की संगठन शक्ति कमाल की थी और वह सूक्ष्मबुद्ध का बादशाह था। गुरु रघुवर दयालु कानपुर के विख्यात लठैत थे। उन्होंने अपने सैकड़ों शिष्यों को लाठी मास्टर बनाया था। वे बरेली जेल गए, तो उनकी फाइल पर लिखा था—मोस्ट डेंजरस एण्ड पावरफुल—कि यह आदमी बहुत खतरनाक और शक्तिशाली है।

मुहम्मद हसन ने उन्हें सबसे अलग रखा और चार दिन तक पूरी इज्जत और सुविधा दी। पाँचवें दिन उन्हें अपने सामने बुलाया। जब वे आये, तो एक खूबसूरत कैदी लड़का भी वहाँ खड़ा था। मुहम्मद हसन ने अपनी गुनगुनी (वह नाक में बोलता था) आवाज में कहा—“गुरु जी, मैं जानता हूँ कि आप खास आदमी हैं और मैंने आपको इज्जत और आराम देने में कोई कमी रखी हो, आपका पूरा ख्याल न रखा हो, तो आप कहें, पर आपको भी तो कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए कि आपकी इज्जत घटे।”

गुरु जी ने प्रश्नवाचक दृष्टि से चीफ वार्डर की तरफ देखा, तो उसने उस लड़के की तरफ देखकर कहा—“यह कहता है कि यह आपके कमरे को साफ करने गया, तो आपने इसे दबोच लिया……।” एक मिनट रुक कर उसने कहा—“खैर, जाइये आप, मैं इसे समझा दूँगा कि यह जेल में हल्ला न मचाये।” गुरु जी लौट आये, साफ है कि उनकी लाठी छिन गयी थी और वे समझ गए थे कि यहाँ ताकतवर बन कर नहीं, प्रणत होकर ही दिन बिताये जा सकते हैं, पर मुहम्मद हसन की प्रशासन-कला कि गुरु जी को मिली सुविधायें उनके छूटने के दिन तक जारी रहीं।

1930 में एक बार मुहम्मद हसन की हुकूमत में कांग्रेसी कैदियों ने अगावत की थी।



भीतर ही भीतर बांध बँसके। जेण्ण तपशील आर सवय बाह्येण्ण। उस समय सब नारे लगाये और अपने तसले पीटे। खास बात यह कि पंडित जवाहर लाल नेहरू भी तब वरेली जेल में ही थे, पर मुहम्मद हसन ने उन्हें दूर की बैरक में, जिसका नाम ही गड़्ढा बैरक था, रखने की व्यवस्था कर रखी थी। औरतों की बैरक नेहरू जी की बैरक के पास ही थी। इस नारे-बाजी से पहले औरतों की बैरक में कुछ गरमी आ गयी थी। उन दिनों उस बैरक में पूज्य पंडित मदन मोहन मालवीय के वंश की भी बहुते कैद थीं, पर मुहम्मद हसन के लिए सब बराबर थीं। उसने स्त्रियों को बेंतों से एक दिन खूब पिटाया। उसे पता था कि स्त्रियाँ चिल्लाने में पुरुषों से तेज होती हैं, तो उनकी चिल्लाहट नेहरू जी तक पहुँचेगी। उसने दोनों बैरकों के बीच में टीन की बहुत-सी चादरें डलवा दीं और जब तक स्त्रियों की पिटाई हुई, कैदी हथौड़ों से उन चादरों को पीटते रहे। नेहरू जी तक चिल्लाहट कैसे पहुँचती? वह तो टीन की गड़गड़ाहट में फँसकर रह गयी।

दूसरे ही सप्ताह नेहरू जी वरेली की सेंट्रल जेल में भेज दिए गए। इसलिए जब पूरी जेल में बगावत हुई तो मुहम्मद हसन खामोश अपनी कुर्सी पर बैठा रहा, उसने न किसी को रोका, न किसी से कुछ पूछा, पर दूसरे दिन कैदियों के सोकर उठने से पहले ही हर बैरक में जितने कांग्रेसी कैदी थे, उतने ही गैर-कांग्रेसी कैदी आ घुसे। हर एक के हाथ में एक डण्डा था। वो पिटाई हुई, वो पिटाई हुई कि सब नारे ठण्डे पड़ गये।

जेल की खबर बाहर पहुँचना असम्भव था, पर इसका द्वार मुहम्मद हसन के हाथों ही खुल गया। जो लोग पिटाई के कारण माफीनामों पर दस्तखत करके जेल से बाहर गए, उन्होंने खूब हल्ला मचाया और बात अखबारों तक पहुँची। सर सीताराम यू० पी० कौंसिल के प्रेसीडेंट थे। वे गवर्नर से मिले और तब सरकारी तौर पर जाँच करने आये।

मुहम्मद हसन अपने पूरे तामशाम के साथ हर बैरक में गया और भूत की तरह गुनगुनाते हुए उसने कहा कि—“जो आयेगा, पूछ-ताछ कर चला जायेगा, पर उसके बाद तो आप मेरे ही साथ रहेंगे। जो कोई कुछ कहे, सोच-समझ कर कहे।” सर साहब आये, कई बैरकों में घूमे, पर सब शान्त रहे, कोई खास शिकायत नहीं की। हरेक की जीभ पर आतंक का ताला था। मारपीट में जिन लोगों की हड्डियाँ टूट गई थीं और जिनकी चोटों पर पट्टियाँ बँधी हुई थीं, उन्हें मुहम्मद हसन ने पहले ही दूर की एक बैरक में भेज दिया था और वहाँ वह सर साहब को ले ही नहीं गया।

अस्पताल के पिछले हिस्से को उसने शाही महल बना रखा था। उसमें वह ऐसे कांग्रेसियों को रखता था, जिनकी बाहर आवाज थी या फिर जो उसे प्रतिमास निश्चित रकम देना मान लेते थे। इन लोगों को कोई कष्ट न था। ये जो चाहते, खाते-पीते, बाजार से मँगाते और मोज करते।

जेल को अंतर्कित रखने में मुहम्मद हसन का उद्देश्य क्या था? उसका मुख्य उद्देश्य



था पैसा कमाना । उसे कैदी को साहब के आम्बल के नीचे गिरा दिया, वह कैदी से ही प्राप्त होती थी । कैदी से उसके असिस्टेंट कहते—“अब, बरेली जेल से जिन्दा लौटना चाहता हो, तो चीफ वार्डर साहब को चाँदी का सलाम कर ।” तब उसे एक बड़ी रकम बताई जाती । कैदी एक छोटी रकम की बात कहता तो मुनते ही उसके ऊपर काला कम्बल डाल दिया जाता और कई कैदी सबके सामने उसे अन्धाधुन्ध बेतों से पीटने लगते । जब वह अधमरा हो जाता, तों एक तरफ डाल देते । वह जरा संभलता, तो एक छोटी पिटाई फिर होती, और बस उसकी सारी शक्ति निचुड़ जाती । रकम तय हो जाती, वह घर पत्र लिखता, घर वाले उतने रुपये लेकर अगले रविवार को मिलने आ जाते और रुपये दे जाते । वह धीरे से कह देता—“मुझे जिन्दा घर बुलाना चाहो, तो हर महीने इतने रुपये लेकर आ जाया करो ।” हवालातियों से एकमुश्त रकम ली जाती थी । रकम वसूली के लिए जेल वार्डर कैदियों के घर पहुँच जाते थे । पिटाई इस गणित से होती थी कि रविवार को इतने हजार रुपये अवश्य मिलें । इस पिटाई में अगर कोई मर जाता था, तो जेल का डाक्टर इसे निमोनिया से मृत्यु घोषित कर देता था । कितने लोग पिटाई में मरे, इसकी गिनती यमराज का मुनीम भी नहीं कर सकता ।

मुहम्मद हसन का एक उद्देश्य यह भी था कि अंग्रेज सरकार की नजरों में वह कांग्रेस का दुश्मन माना जाये और इस प्रकार उसके सब गुनाह राजभक्ति की चादर में ढँके रहें । काफी दिनों तक ढँके भी रहे, पर 1932-33 में यू० पी० कांग्रेस कमेटी ने एक प्रस्ताव पास कर हाफिज मुहम्मद इब्राहीम को जाँच का काम सौंपा । उन्होंने उस समय के होम मेम्बर नवाब छतारी श्री मोहम्मद यूसुफ साहब के सामने सारा मामला रखा और तब उन्होंने मुहम्मद हसन को समय से पहले ही रिटायर कर दिया ।

अपने गाँव शाहपुर (हरदोई) की किसी कन्न में जाति और स्वभाव दोनों से कसाई वह मुहम्मद हसन कयामत का इन्तजार कर रहा होगा, पर यू० पी० में जाने कितने लोग उसकी ढाई कयामतों के नतीजे अब भी भोग रहे हैं ।

बरेली जेल तो अपने अत्याचारों की शृंखला के कारण वदनाम हो गई, पर इतिहास की सच्चाई यह है कि पूरे उत्तर प्रदेश की हरेक जेल ही नरक का छोटा संस्करण थी । स्वतन्त्रता संग्राम के सिलसिले में जेल जाने वाले और चोरी, डकैती, मारपीट और जालसाजी में जेल जाने वाले में जेल का कानून और जेल के अधिकारी कोई भेद न मानते थे और दोनों से एक ही तरह के व्यवहार की आशा करते थे और दोनों से एक ही तरह का व्यवहार करते थे । राजनैतिक कैदियों को एक घाटा और था कि जेल के जो अधिकारी भले थे, राजनैतिक कैदियों का मन में सम्मान करते थे, वे भी उनके साथ अच्छा व्यवहार करने से हिचकिचाते थे कि कलक्टर, कप्तान तक खबर पहुँच गई तो उनकी नौकरी पर आँच आयेगी । मतलब यह कि हर जेल में झगड़े थे, मारपीट थी, भूख हड़तालें थीं और सजायें थीं । यह सजा तो स्थायी रूप से ही सबको प्राप्त थी कि कपड़े के नाम पर कैदी को बिछाने के लिए मूँज का, शरीर छील देने वाला पट्टा और ओढ़ने के लिए काला कम्बल मिलता था । गरमी में हालत यह थी कि कम्बल ओढ़े तो दम घुटता था और न ओढ़े तो मच्छर काटते थे । इसलिए कम्बल के



एक कोने से ~~sign~~ ~~by~~ ~~उप~~ ~~के~~ ~~सह~~ ~~है~~ ~~अनिवार्य~~ ~~अवश्य~~ ~~क~~ ~~वि~~ ~~वा~~ ~~स्ता~~ 12-1 बजे कुछ ठंडा वातावरण होता था, तब मच्छर बैठ जाते थे और कंदी सोते थे। सरदी में हलत इससे उल्टी होती थी। कम्बल दो मिलते थे, पर वे भारी तो इतने होते थे कि ऊपर ओढ़ने पर मौत का साया मालूम देते थे, पर जाने वह कसौ ऊन होती थी कि कम्बलों में गरमी बहुत ही कम थी, रात में 12-1 बजे के बाद वे ठण्डे हो जाते थे और गंधरी नींद लेना सम्भव ही न था। यह तो था ही कि जेल की बरंकों में जंगलदार दरवाजे होते थे, जिन पर किवाड़ लगाने का नियम है ही नहीं। उनमें हवा पूरे बेग से भीतर आती थी और बेखौफ बुक्कलों में घुसकर कंदियों की देह में आलपीन चुभाती थी। मतलब यह कि दिन ही मुसीबत के न थे, रातें भी मुसीबत की थीं, पर स्वतन्त्रता के सिपाही ऐसे नशे में डूबे हुए थे, ऐसे मदमस्त थे कि जेलों का नाम सुसराल पड़ गया था। वे पानी पीने के लिए मिले हुए तसलों को तबलों की तरह बजाते और बेड़ियों के डण्डों को मंजीरों की तरह और राष्ट्रीय गीत गाते, नारे लगाते और झूमते।

उत्तर प्रदेश की फँजाबाद जेल 1930 में जेलों का स्वर्ग रही। वहाँ राजनैतिक कंदियों का ही अधिकार था, उन्हें कोई खास बन्धन न था। कमवीर पंडित सुन्दरलाल राजनैतिक कंदियों के डिक्टेटर थे और सुपरिन्टेन्डेन्ट गेंदासिंह और बाद में राय बहादुर राम स्वरूप श्रीवास्तव उनकी सलाह को उचित महत्व देते थे। पूरे उत्तर प्रदेश के बी० क्लास के कंदी फँजाबाद में ही रखे जाते थे। इनमें अनेक के रिश्तेदार यू० पी० कौंसिल के मेम्बर थे और फँजाबाद में किसी के घर में काँटा भी चुभे, तो वे होम मेम्बर को टेलीफोन खड़काते थे। फिर कंदी भी जिले-जिले के चुने हुए लोग थे, जिनकी हैसियत कार्यकर्ता की नहीं, नेता की थी, पर 1932 में तो लार्ड विलिंग्डन की नादिरशाही थी, लाठी-चाजों का युग था वह। फिर भी आरम्भ के 7-8 महीने भले बीत गये और कई सुपरिन्टेन्डेन्ट थोड़े-थोड़े दिन रहकर बदल गये। वहाँ 'अनुशासन' स्थापित न कर सके, पर जेलों के अंग्रेज इन्स्पेक्टर जतरल पामर को इसमें अपना अपमान लगा कि वह सूबे भर की जेलों में जाये और फँजाबाद जेल का मुआयना करना अपने लिए बजित माने। वह फँजाबाद गया, पर कंदियों ने उसे ऐसा सम्मान दिया, अपने गरम नारों से उसके अहंकार के फोड़े की ऐसी सिकाई की कि बेचारे की तन्नियत ताजी हो गई। जल-भुन कर उसने पक्के अंग्रेज भेंट डाक्टर श्याम मतोहर को सुपरिन्टेन्डेन्ट बनाकर फँजाबाद भेजा। उन्होंने कमाल कर दिया कि बिना कंदियों पर कोई अभियोग लगाये, सबके टिकटों पर सजाये लिख दीं।

आगे का एक उत्तेजक दृश्य श्री बेनीसिंह के शब्दों में :—

"घटना 26 अक्टूबर, सन् 1932 की है जबकि जिला जेल फँजाबाद में प्रान्त के 300 से अधिक आजादी के दीवाने 'बी०' क्लास बन्दिनों के रूप में जेल की चहारदीवारी में बन्द थे। मुझे डेढ़ वर्ष कैद तथा 100 रुपये जुर्माने की सजा हुई थी। वरिष्ठ साथी बन्दिनों के रूप में सर्वश्री लाल बहादुर शास्त्री, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, मंजरअली सोखता तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हमारे बीच में मंजूर थे।



अनुशासन बनाये रखने के ध्येय से मंजरअली सोहता हमारे 'डिबटेटर' थे। हम मतवालों में होड़ थी— जेल के कानूनों का तिरस्कार करने अधिक से अधिक अध्ययन करने और अधिकारियों की प्रतिष्ठा कम करने की।

कुछ ही दिन पूर्व सूचना मिली कि तत्कालीन महानिरीक्षक श्री पामर और होम मेम्बर तवाव छतारी जेल का निरीक्षण करने आयेंगे। ब्रिटिश शासन के अधिकारियों को उनकी असलियत जताने का इससे सुन्दर मौका कहाँ था। प्रदर्शन सफल हुआ। परिणाम हुआ कि जेल के सुपरिन्टेन्डेण्टों का तवादला कर दिया गया और मैं अपने स्वभाव के कारण लोगों की निगाहों में चढ़ गया।

मुगल-काल में जब स्थानीय सूबेदार बगावत दवाने में असफल होता था, तो बादशाह दिल्ली से शाहजादा भेजता था। ब्रिटिश सरकार ने अपने एक लाइल सिविल सर्जन डाक्टर श्याम भनोहर को वागियों को अच्छा सबक सिखलाने के लिए फैजाबाद भेजा। सारे बन्दियों के टिकट मंगाकर बिना किसी पेशी या मौका सफाई के जेल की सारी सजायें लिख दी गयीं। मेरे लिए तीन महीने टाट के कपड़े, तीन महीने तनहाई और तीन महीने डण्डा वेड़ी मय मतभंगा (क्रासबार) की सजा दी गयी और मैं 'बी' से 'सी' में कर दिया गया। टीप का बन्द यह था कि सारी सजायें किसी दूसरी जेल में कार्यान्वित की जायेंगी।

खुशकिस्मती समझिये या बदकिस्मती, पहला बँच मेरा था और साथी थे होरी लाल सक्सेना और पालन जी के बड़े भाई जी जगदम्बा नारायण सक्सेना उर्फ दम्बे जी। हम बड़ी खुशी से चक्कर से बाहर आये, सोचा खुली हवा तो कुछ देर मिलेगी, पर जब हुकम हुआ कि वेड़ियाँ पहनायी जायें तो माथा ठनका; इन्कार किया, लम्बी बहसें हुयीं। आखिर 'सोबता' साहब के हुकम पर वेड़ियाँ पहन लीं। दूसरा हुकम हुआ जेल से स्टेशन तक पैदल जाने का। हम लोगों ने इन्कार किया। एक बार फिर बहस छिड़ गयी। जेल अधिकारी क्रोध में उफनते थे, पर हम लोगों के पीछे अन्य बन्दियों का हुजूम देख चुप थे। गाड़ी छूटने का समय हो गया था। जेल अधिकारियों ने हमें फाटक के किनारे की कोठरी में बन्द कर दिया। हुकम हुआ— प्रातः गाड़ी से जायेंगे।

लेकिन जेल अधिकारियों को चैन कहाँ? रात को दो बजे हमें निकाला गया। हम तीनों बन्दियों पर वार्डर टूट पड़े और घसीट कर जेल के फाटक के बाहर ले आये। बाहर कुब्धात पुलिस का लाइन इन्स्पेक्टर टीजडेल अपनी पूरी गारद के साथ खड़ा था, जिसकी कानपुर में डी० ए० बी० कालेज के छात्रों ने जमकर ठुकाई की थी। उसने मेरे बाल पकड़ कर मुझे खड़ा करना चाहा, पर जब वह स्वयं न कर सका तो दो सिपाहियों का आदेश दिया। सिपाही मुझे खड़ा कर जब भी छोड़ते मैं गिर पड़ता। रात के सप्ताटे में बड़ी देर तक यह क्रिया और-प्रक्रिया चलती रही। क्रोध में भर कर टीजडेल ने मेरे मुँह पर दो दूँसे मारे। नाक-मुँह से खून बह निकला, दाँत हिल गए, पर मैं खड़ा न हुआ, तो न हुआ। हुकम हुआ, घसीटते ले चलो। चार-चार सिपाही एक-एक बन्दी को घसीटते चले। टीजडेल रह-रह कर



हम लोगों को ठोकें मारता और भद्दी-भद्दी गालियां देता चल रहा था। रात का सत्राटा था, न कोई देखने वाला और न कोई सुनने वाला। ठोकड़ों और गालियों का क्रम चल रहा था, पर मुझे हँसी आ रही थी क्योंकि श्री होरी लाल जिन्होंने दाढ़ी रखा ली थी; डर रहे थे कि कहीं जालिम उनकी दाढ़ी न नोचें। अतः वे अपना एक हाथ अपनी दाढ़ी पर रख लेते थे। मेरी हँसी टीजडेल के पारे को ऊँचा उठा रही थी और वह मुझ पर ठोकड़ों और भद्दी गालियों की बौछार करता जा रहा था।

स्टेशन पहुँचते-पहुँचते कपड़े चिथड़े हो गए, पीठ की खाल छिल गई और मांस में छोटे-छोटे कंकड़ घुस गये। मुँह फूल गया, नाक सूज गयी, आँखें छोटी हो गयीं और आवाज में मिनमिनाहट आ गई, लेकिन बेनी सिंह जब तक सड़क पर रहे, नहीं चले तो नहीं चले।

स्टेशन पहुँचने पर हमने कहा कि अब हम चल सकते हैं। सिपाहियों ने हमें छोड़ दिया। हम खड़े हुए। मैंने झुक कर बेड़ी-अंटा ठीक करने की कोशिश की कि तुरन्त टीजडेल ने पीछे से ठोकर मारी और मैं प्लेटफार्म पर गिर पड़ा।

गाड़ी आने पर हमें सिपाहियों के बीच थर्ड क्लास में बंठाया गया। उजेला हो रहा था और जब प्रकाश में हम दोनों (मैंने और श्री होरी लाल) ने एक दूसरे की सूरत देखी तो जोरों का ठहाका मार कर हँस पड़े। जालिम टीजडेल को हमारी यह हँसी भी बर्दाश्त न हुई और उसने हमें दो-दो ठूँसे और मारे, बेड़ी तो पड़ी ही थी, हथकड़ियाँ भी डाल दीं और कम्पार्टमेंट में दूर-दूर बँठाल दिया। हमें प्रतापगढ़ जेल ले जाया गया, जहाँ महीनों हमारी मरहम-पट्टी होती रही।

जब ऊँची क्लास की केन्द्रीय जेल में अंग्रेजी सरकार के अत्याचारों की कहानी का यह रूप था तो साधारण जिला-जेलों का क्या हाल होगा, यह अनुमान लगाना कठिन नहीं। इस बार राजनैतिक लोगों को बँत लगाना सरकार ने अपना धर्म ही मान लिया था। 27 अप्रैल, 1933 को इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट में यह स्वीकार किया गया था कि "भारत सचिव सर सैम्युअल होर को यह बात मालूम है कि हिन्दुस्तान में 1932 के सत्याग्रह से सम्बन्धित जुर्मों के सिलसिले में कोई 500 व्यक्तियों को बँत लगे हैं।" यह संख्या गलत है क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि अदालतों के फैसलों में बँतों की जिन सजाओं का जिक्र आ चुका था, वे आँकड़े उन्हीं के हैं, पर जेलों में अनियमित रूप से जो बँतबाजी हुई, वह तो इससे बहुत अधिक है। उत्तर प्रदेश की ही कई जिला-जेलों में बँत लगाने की टिकटिकी चौक से उठाई ही नहीं गयी।

उत्तर प्रदेश के इन्स्पेक्टर जनरल इतने से भी संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने 30 जून, 1933 को जबकि सत्याग्रह का वेग कम हो चला था, जिला-जेलों के सुपरिन्टेन्डेन्टों के नाम एक सर्कुलर भेजा। इसमें कहा गया था—“सत्याग्रही कैदियों के साथ उनके महज



सत्याग्रही होने की वजह से रियायती बतवि करने की कोई वजह नहीं है। इस दर्जे के कैदियों को अपनी-अपनी जगहों में रखना चाहिए और उनके साथ खूब सख्ती से पेश आना चाहिए।” जिन जेलों में पहिले से ही राक्षसी सख्तियों की भरमार थी, उनमें इस सर्कुलर के बाद कैसी अन्धेरगद्दी मची होगी, इसका कोई भी अनुमान लगा सकता है।

यदि उत्तर प्रदेश की जेलों के संस्मरण एक पुस्तक में इकट्ठे किये जायें, तो वह भावी पीढ़ियों के लिए स्वतन्त्रता के संघर्ष की ऐसी दस्तावेज बन जाये, जो प्रेरक भी हो और ज्ञानवर्धक भी। इस दस्तावेज को तब तक अधूरा ही माना जायेगा, जब तक उसमें लखनऊ की कैम्प जेल का हाल न लिखा जाये। अंग्रेजी सरकार जब कांग्रेसी कैदियों को ठूस-ठूस कर भी अपनी जेलों में न समा सकी तो उसने काटिदार तारों से एक बड़ा मैदान घेर कर और उसमें टीन के छप्पर डाल कर एक कैम्प जेल बनाई। टीन के छप्पर गर्मियों में तप कर भट्टी-भाड़ बन जाते और सर्दियों में बर्फ की सिल्लियाँ। गर्मियों में वहाँ हैजा फैलता और सर्दियों में निमोनिया आ बैठता। पानी की दिक्कत तो वहाँ स्थाई ही थी। जो लोग वहाँ रहे, उनके स्वास्थ्य में ऐसी दीमकें लग गयीं जो फिर कभी नहीं छूटी। जो मर गये, वे शहीद हो गये, पर जो सदा के लिए अपनी जीवन-शक्ति लुटा कर जीवित रहे, अपने दर्द का सही अनुभव वे ही कर सकते हैं।

• • •



## 18 : काल-कोठरियों से कुर्सियों पर

साइमन कमीशन की रिपोर्ट और दूसरी गोलमेज कांग्रेस के बाद इंग्लैण्ड की सरकार ने हिन्दुस्तान के शासन-सुधार की नई किशत के रूप में 1935 का कानून पास किया था। इसकी मुख्य बात थी प्रान्तों को अपना शासन करने की स्वाधीनता। अभी तक मंत्री लोग गवर्नर के प्रति उत्तरदायी होते थे। इसका अर्थ हुआ कि विधान सभा (कौंसिल) एक बहस करने वाली बैठक मात्र थी, पर इस नये कानून ने मन्त्रियों को विधान सभा के प्रति उत्तरदायी बना दिया था। इससे विधान सभा को प्रान्त की पार्लियामेन्ट का रूप प्राप्त हो गया था। मन्त्रिमण्डलों की बैठक का अध्यक्ष तो गवर्नर ही होता था, पर विधान सभा का नेता मुख्य मन्त्री होता था, जिसे तब प्रधान मंत्री कहा जाता था। वही मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता था। एक बात और खास थी कि इस विधान सभा से पहले बहुत थोड़े लोगों को और वह भी अधिकतर आर्थिक आधार पर ही वोट देने का अधिकार था, पर लार्ड लोथियन की कमेटी ने वोटरों की संख्या सत्रह लाख से साढ़े तीन करोड़ के लगभग कर दी थी। इस प्रकार इस कानून के अनुसार जो चुनाव होने वाले थे, उनका संक्षेप में ही सही, जनतांत्रिक रूप बन गया था।

इन चुनावों में कांग्रेस हिस्सा ले या न ले और हिस्सा लेने पर उसे जिस राज्य में बहुमत मिल जाये, वहाँ वह अपने मन्त्रिमण्डल बुलाये या नहीं? इस प्रश्न पर कांग्रेस में दो मत थे जैसा कि 1924 में भी था। तब स्वराज्य पार्टी बनाकर काम चलाया गया था, पर अब तो वह बात सम्भव न थी, क्योंकि कार्य समिति की तरह पार्लियामेन्टरी बोर्ड भी अब कांग्रेस का एक विभाग था। अब तो कांग्रेस इस प्रश्न पर हाँ या ना ही कह सकती थी, पर यह प्रश्न अपनी संभावनाओं में काफी उलझा हुआ था। इसे सुलझाने के लिए अप्रैल, 1936 में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ और सभापति चुने गये पंडित जवाहर लाल नेहरू। विदेश में श्रीमती कमला नेहरू की मृत्यु 28 फरवरी, 1936 को हो गयी थी और उनके 'फूल' लेकर जवाहर लाल जी तभी लौटे थे।

लखनऊ कांग्रेस युगम्परिवर्तनकारी कांग्रेस सिद्ध हुई। उसने चुनाव लड़ने का आदेश दिया, पर मन्त्रिमण्डल बनाने या न बनाने का निर्णय बाद के लिए छोड़ दिया। आचार्य नरेन्द्र



देव, जय प्रकाश नारायण और अच्युत पटवर्धन, इन तीन समाजवादियों को कार्यकारिणी में ले लिया गया, जो क्रान्तिकारी कदम था। एक बहुत बड़ी बात यह हुई कि पहली बार कांग्रेस ने राष्ट्रीय समस्याओं के साथ विश्व की समस्याओं से अपने को जोड़ा। फल यह हुआ कि लखनऊ अधिवेशन के कुछ दिन बाद ही देश भर में अबीसीनिया-दिवस मनाया गया। इसमें अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण की निन्दा की गई।

1937 की फैजपुर कांग्रेस में भी जवाहर लाल जी ही अध्यक्ष रहे और वस इससे निपटे कि चुनाव आ गए। ये चुनाव बहुत महत्वपूर्ण हैं और इनके परिणाम भाग्य का निर्णय करने वाले होंगे, इसे कांग्रेस भी समझती थी और सरकार भी। इसलिए दोनों ने ही अपने को पूरी तरह इन चुनावों में दाँव पर रख दिया।

सरकार ने ज़मींदारों-ताल्लुकेदारों, रायबहादुरों, खानबहादुरों की फौज खड़ी की, एक-से-एक शानदार उम्मीदवार और हरेक के पास चाँदी के रूपयों से भरी बोरियाँ। जमींदारों ने गवर्नर से कहा कि हम किसानों का एक भी वोट कांग्रेस को न जाने देंगे और मकान मालिकों ने अपने किरायेदारों के वोट सरकारी उम्मीदवारों के लिए सुरक्षित बताये। जातियों के बड़े चौधरियों ने अपनी-अपनी जातियों के वोट अपनी मुट्ठी में बन्द मान लिए और वादा किया कि हमारी मुट्ठियाँ सिर्फ सरकारी उम्मीदवारों के लिए ही खुलेंगी।

कम से कम उत्तर प्रदेश में तो चुनाव-युद्ध का संचालन पूरी तरह स्वयं गवर्नर ने ही किया। गवर्नर ने ही उम्मीदवार चुने। उनके मुकाबले पर जहाँ तक संभव हुआ, उसने उसी तबके के दूसरे उम्मीदवारों को खड़ा नहीं होने दिया और पारस्परिक या जातीय या क्षेत्रीय विरोधों को भूलकर उन्हीं उम्मीदवारों की मदद करने को बाध्य किया। यदि किसी रायबहादुर या जमींदार के जीतने की उम्मीद थी, पर वह कांग्रेस के मुकाबले पर खड़ा होने को तैयार नहीं था तो गवर्नर ने जिले के अंग्रेज कलक्टर के साथ उसे लखनऊ बुलाया और उम्मीदवारी के लिए तैयार कर दिया।

पूरी सरकारी मशीनरी इन सरकार-परस्त उम्मीदवारों के साथ थी। सबसे बड़ा काम पटवारियों और जमींदारों के कारिन्दों ने संभाला। उन्होंने घर-घर जाकर आम आदमियों, किसानों, मजदूरों और हरिजनों को मुहब्बत से समझाया कि तुम्हारा फायदा बड़े आदमियों के साथ रहने में है और उन्हें छोटे-छोटे प्रलोभन भी दिए। देहातों में गरीबों की जिन्दगी उस समय इतनी जकड़ी हुई थी कि ये छोटे प्रलोभन भी बहुत बड़े थे। सरकारी अफसरों ने उन लोगों पर, जिनके मुकदमे उनकी अदालतों में चल रहे थे, जोर दबाव डाला। यह तो उस समय का उत्तर प्रदेश में आम रिवाज ही था कि यदि जमींदार और किसान में मुकदमेबाजी हो तो डिप्टी कलक्टर और तहसीलदार जमींदार से पूछ कर फैसला लिखा करते थे। इस तरह गरीबों की जिन्दगी और मौत इन्हीं लोगों के हाथ थी। फिर आम मतदाता को यह भी समझाया गया कि कांग्रेस के उम्मीदवार गरीब हैं। वे चुनाव के दिन तुम्हें घरों से दूर-दूर के पोलिंग स्टेशनों तक पैदल घिसटने को कहेंगे। हम तुम्हारे लिए मोटरों, गाड़ियों और तांगों का



प्रबन्ध करेंगे। तुम कांग्रेस के साथ रहोगे तो चुनाव के दिन भूखे रहोगे और हम हरेक पोलिंग स्टेशन पर खाने का बर्तन प्रबन्ध करेंगे।

वोटरों से यह सब कह कर पूछा गया—“बताओ, अब तुम किसके साथ रहोगे?” पहली बार सब जगह इसका एक ही उत्तर मिला—“अजी, हम किसके रहते, हम तो अब भी उसी के साथ रहेंगे, जिसके साथ सदा रहे।” गवर्नर को जो पहली रिपोर्ट अलग-अलग जिलों से मिली, उसका सार था—“मोर्चा पूरी तरह अपने काबू में है। कांग्रेस को 15-20 प्रतिशत सीट भी मिल जायें तो बड़ी बात होगी।”

अब कांग्रेस के उम्मीदवार सामने आये। वे अधिकतर गरीब थे, पर वे सबके सब वे थे, जो देश की आजादी के लिए जेलें काट चुके थे, पुलिस की लाठियों सह चुके थे, अपने रोजगार धन्ये खराब कर चुके थे। अब मतदाताओं की एक आँख इन पर जमीं तो दूसरी उन पर। कहीं से एक कड़कता सवाल उठा—“वोटर-भाइयों, एक तरफ हैं वे, जिनके सिर पर गुलामी के शानदार झन्डे हैं और दूसरी तरफ हैं वे जिनकी छातियों पर आजादी के धाव हैं, तुम किसे वोट दोगे?” गजब देखिये कि यह सवाल देहरादून में भी गूंगा और गोरखपुर में भी। पूरे उत्तर प्रदेश को झन्ना दिया इस कड़कते सवाल ने और सब जगह इसका एक ही उत्तर था—हम उन्हें वोट देंगे, जिनकी छातियों पर आजादी के धाव हैं।

यह उत्तर दिलों के भीतर था, होठों की फुसफुसाहट में था, पर झन्डे वालों ने इसे साफ-साफ सुन लिया था। इसलिए मतदाताओं पर दबाव और जुलूम शुरू हुए। खेतों पर से घास काटना वर्जित हो गया, उनके जानवर चरागाहों से पकड़ कर काँजी हाँसों में बन्द करा दिये गये, बेदखलियों की धूम मचा दी गई, क्षोपड़ियाँ ढाई गई, खुले आम उन्हें और उनकी स्त्रियों को गालियाँ-धमकियाँ दी गई, साहूकारों से कर्जों की नालिशें कराई गई, पुलिस से मिल कर झूठी चोरियों के सच्चे केस दायर किये गये, उनके घरों में घुस कर उन्हें लाठियों-डण्डों से इस बुरी तरह पीटा गया कि 1930-32 के आन्दोलनों में हुए लाठी चार्ज भी मात मान गए और कई-कई दिन तक भूखे-प्यासे उन्हें घरों में बन्द रखा गया।

कांग्रेस चुनाव मशीनरी का निर्माण और संचालन रफी अहमद किदवाई के हाथों में था। रफी साहब उत्तर प्रदेश की राजनीति के चतुर्मुख ब्रह्मा थे। पूरा चुनाव-तन्त्र उनके हाथों में था। एक-एक पुर्जों पर उनकी निगाह थी। हर चुनाव-क्षेत्र का मानसिक रक्षान देख कर वहाँ के लिए उम्मीदवार निश्चित किया गया था। हर उम्मीदवार की जरूरतें और दिक्कतें अलग-अलग थीं। पैसे की व्यवस्था करना और यथासम्भव मोटरों का प्रबन्ध करना उनका ही काम था। सबसे मुश्किल काम प्रचार का था। कितना विशाल उत्तर प्रदेश, उसके गाँव-गाँव में सन्देश पहुंचाना, यह भी उनके ही जिम्मे था। इन सबको सुनते-सुनते ही आदमी पागल हो जाये, पर रफी साहब में शीर्षक सुन कर लेख को समझ लेने की अपूर्व क्षमता थी। इसलिए चुनाव की क्षतरंज एकदम ठीक बिछी हुई थी और उसकी हर गोट और हर चाल



की वे समझ रहे थे। वे पूरी तरह सन्तुष्ट थे, परं तभी यह सम्भावना डरावनी होने लगी— जमींदार और सरकार के संयुक्त अत्याचार से गरीब-असहाय जनता हिम्मत न हार बैठे।

इन्हीं परिस्थितियों में कांग्रेस अध्यक्ष पंडित जवाहर लाल नेहरू ने उत्तर प्रदेश का तूफानी दौरा आरम्भ किया। इस दौरे को इस तरह संगठित किया गया कि हरेक निर्वाचन क्षेत्र तक उनकी आवाज पहुंच जाये। जवाहर लाल नेहरू का नाम जनता तक पहुंचा हुआ था, उनके प्रति सब में आकर्षण था। इस दौरे ने उन्हें जमींदारों के अभिशापों से जकड़ी जनता के लिए मुक्तिदूत बना दिया। उन्होंने अपने भाषणों में उम्मीदवारों की न तुलना की, न अपनों को दूसरों से श्रेष्ठ बताया, परिस्थितियों का चित्रण किया और कांग्रेस को ही उन्हें बदलने वाला बताया। जनता गहराई में क्या उतरती। उसने काम की बात यह समझ ली कि गाड़ियों में दूसरों की बैठ कर पोलिंग पर आना, उनके डेरों में खूब माल खाना, उनसे ही पर्ची लेना पाप नहीं है, पाप है सिवाय कांग्रेस के किसी और को वोट देना। इस दौरे में मतदाता प्रशिक्षित हुए और पक्के हुए कि चाहे जितने जुल्म हों, वोट कांग्रेस को ही दें, क्योंकि इन जुल्मों की दवा उसकी जीत में ही है।

चुनाव के दिन जब वोट पड़े, तो भीड़ें जुड़ गयीं। वे भी थे जो तिरंगा झण्डा लिये गीत गाते हुए आये और वे भी थे जो जमींदारों की मोटरों में बैठ कर आये, पर मत जिन्होंने कांग्रेस को ही दिये। उत्तर प्रदेश असेम्बली में कांग्रेस को बहुमत मिला। यू० पी० काँग्रेस के अध्यक्ष सर सीताराम को पंडित प्यारे लाल शर्मा ने हराया और श्रीमती विद्यावती राठौर ने सर सी० वाई० चित्तामणि को। लंडोरा का राजा 22,000 वोटों से हारा और आजमगढ़ में अलपुराया शास्त्री ने जिला बोर्ड के चेयरमैन को 20,000 वोटों से हरा दिया। सारे देश की स्थिति को भी यही समझें। प्रान्तों की कुल विधान सभाओं में 1,585 सीटें थीं। उनमें 711 कांग्रेस को मिलीं। उत्तर प्रदेश, मद्रास, मध्य प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में कांग्रेस की पूर्ण जीत हुई। बंगाल, बम्बई, आसाम और सीमा-प्रान्त में अकेली कांग्रेस ही सबसे बड़ी पार्टी रही। बस सिन्ध और पंजाब में कांग्रेस को सफलता नहीं मिली।

दिल्ली में कांग्रेस का राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। उसने जहाँ कांग्रेस को बहुमत है, वहाँ मन्त्रिमण्डल बनाने की स्वीकृति दे दी, पर शर्त यह लगा दी कि उन्हें यह विश्वास हो कि गवर्नर उनके रोज के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। इस शर्त के कारण मन्त्रिमण्डल बनने में बाधा पड़ गयी, क्योंकि गवर्नर इसके लिए तैयार नहीं हुए।

तब अंग्रेजी सरकार ने अल्पमत सदस्यों के मन्त्रिमण्डल बनवा दिये। उत्तर प्रदेश में नवाब छतारी प्रधान मन्त्री बने और उन्होंने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया, पर विधान सभा का अधिवेशन बुलाने पर नवाब छतारी का मन्त्रिमण्डल टिक नहीं सकता था और छः महीने से अधिक अधिवेशन टल नहीं सकता था। अंग्रेजी सरकार इसे खूब समझती थी। फिर संसार के अनेक विधान-शास्त्रियों ने कांग्रेस की मांग को उचित बताया। इसलिए वायसराय ने भारत में और इंग्लैण्ड में भारत मन्त्री ने वक्तव्य दिए। कांग्रेस कार्यसमिति उन वक्तव्यों से सन्तुष्ट



हो गयी और इस प्रकार जुलाई, 1937 में उत्तर प्रदेश में पहला कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बना। पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त प्रधान मन्त्री बने। रफी अहमद कदवई, डाक्टर कैलाश नाथ काटजू, सम्पूर्णानन्द और हाफिज मुहम्मद इब्राहीम भी उसके सदस्य थे। पुरुषोत्तम दास टंडन विधान सभा के अध्यक्ष चुने गये। श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, ग्राम विकास अधिकारी बनाये गए और श्रीराम शर्मा उनके सहायक। अजित प्रसाद जैन, गोपी नाथ श्रीवास्तव, चौधरी बिहारी लाल आदि कई संसदीय सचिव बनाये गए। राज्यमन्त्री और उपमन्त्री के पद तब नहीं थे। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को मन्त्रिमण्डल में लेना उत्तर प्रदेश की अपनी विशेषता थी। दूसरे किसी राज्य में कोई महिला मन्त्रिमण्डल में नहीं थी। जनता ने इस पर खूब खुशियाँ मनाईं।

अफवाह थी कि कुछ अंग्रेज अफसरों ने यह दावा किया है कि कांग्रेसी मन्त्री हुकूमत नहीं कर सकेंगे और हम उन्हें दो महीने में ही पागल बनाकर निकाल देंगे। ऐसे अफसरों में पुलिस के इंस्पेक्टर जनरल पीयर्स साहब प्रमुख थे। उन्होंने उत्तर प्रदेश के मुख्य 200 थानों में लीगी दिमाग के पुराने खुरीट मुसलमान दीवान मन्त्रिमण्डल बनने से कुछ दिन पहले ही तैनात कर दिये थे। इन्हें बहुत-सी गुप्त हिदायतें थीं। इनमें किसी कांग्रेसी के कहने से साम्प्रदायिक जहर फैलाने वालों और उपद्रव कराने वालों की रिपोर्टें न लिखना भी एक हिदायत थी।

पुलिस और रेवेन्यू विभाग रफी साहब के पास था। उन्होंने एक दिन पीयर्स को अपने घर चाय पीने के लिए बुलाया। खूब खातिर की, खूब खुशामदाना बातों की जैसे रफी साहब की निगाहों में पीयर्स साहब ही सब कुछ हैं। अपने हाथ से उनके प्याले में चाय डाली और उसे पूरी तरह आश्वस्त कर दिया। चलते समय उसे दरवाजे तक छोड़ने आये और तब बहुत ही सादे स्वर में कहा—“हाँ, मि० पीयर्स, ऐसे 200 दीवानों की मुझे लिस्ट भेजना जो हिन्दी जानते हों। आखिर जिन लोगों ने हमें चुना है, उनका भी ख्याल रखना है।” पीयर्स कुछ नहीं समझा, पर पाँच-सात दिन में उसने उन्हें दो सौ हिन्दी जानने वाले दीवानों की लिस्ट भेज दी। रफी साहब ने खुरीट दीवानों को हटा कर उन थानों में इनको नियुक्त कर दिया। इन दीवानों में 3-4 मुसलमान दीवान थे, बाकी सब हिन्दू थे। पीयर्स का बेहद भयानक लोह-जाल कलम के एक ही डोबे में रफी साहब ने डुबा दिया। पीयर्स फिर रफी साहब के सामने नहीं पड़ा और छुट्टी लेकर इंग्लैण्ड भाग गया।

पन्त जी बम-विभ्रष्ट राजनीतिज्ञ थे, पर इतने शान्त कि अपना सतुलन कभी नहीं खोते थे। विरोधी को चित्त करने के उनके अपने दांव थे और सबसे बड़ा गुण यह था कि वे यह जानते थे कि दांव कब मारा जाये। यदि उपयुक्त समय न हो, तो वे लम्बी प्रतीक्षा कर सकते थे। उनके दांव ठण्डे होते थे, पर एकदम अजगर की कुण्डली कि उसमें फँस कर निकलना असंभव था। उनके एक ही दांव ने पूरे उत्तर प्रदेश के आई० सी० एस० अफसरों का दर्प भंग कर दिया था और इससे मन्त्रिमण्डल का कार्य बेहद सुगम हो गया था।



अंग्रेज अफसरों को कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने से पहले गवर्नर ने बार-बार यह आश्वासन दिया था कि 1935 के शासन-सुधार कानून में आप लोगों की नौकरी को और अधिकारों को एकदम सुरक्षित कर दिया गया है। मन्त्रिमण्डल न आपको 'डिसमिस' कर सकता है, न वेतन घटा सकता है, यह तो कानून में ही लिखा है, पर सबसे बड़ी बात यह है कि आप सीधे गवर्नर से सम्बद्ध रहेंगे। इन आश्वासनों से कांग्रेसियों के प्रति उनके मन का कड़ुवापन और भी बढ़ गया था और वे उन्हें बहुत कम महत्व देने के इरादे बांध बैठे थे, पर एक घटना ने उनकी आंखों में सुरमा डाल दिया।

माल-विभाग के संसदीय सचिव गोरखपुर कुछ फाइलों का निरीक्षण करने गये, पर वहाँ का अंग्रेज कलक्टर बहुत घमण्डी था। वह स्वागत करने नहीं आया और सिटी मैजिस्ट्रेट, भटनागर को भेज दिया, पर जब कचहरी के निरीक्षण के समय भी वह नहीं आया तो संसदीय सचिव ने पूछताछ की। भटनागर ने साफ कह दिया कि वह अवज्ञा के भाव में डूबा है, इसलिए नहीं आया। संसदीय सचिव ने अपने को ही नहीं स्वयं मालमन्त्री रफी साहब को भी अपमानित माना, क्योंकि वे उस निरीक्षण में उनका ही प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

वे बिना निरीक्षण किए लौट आये। रफी साहब ने पन्त जी से कहा तो उन्होंने मामला अपने हाथ में ले लिया, पर कहा कि इस बारे में जल्दी न चाहें। कुछ सप्ताह बाद गोरखपुर की एक तहसील से कुछ खराब खबरें आईं। बस, पन्त जी ने तुरन्त गोरखपुर के उस दम्भी कलक्टर को आदेश भेजा कि वह उस तहसील के डिप्टी कलक्टर (एम०डी०एम०) का चार्ज ले लें और अपना कलक्टरी का चार्ज भटनागर को दे दे। कलक्टर के लिए, और उसी के लिए क्या, सभी आई० सी० एस० अफसरों के लिए यह तो भूकम्प था। उसने इस आदेश को पन्त जी की अनधिकार चेष्टा माना और वह दोड़ा-दोड़ा गवर्नर के पास लखनऊ आया।

गवर्नर सर हेरी हेग स्वभाव से अच्छे मनुष्य थे और उनके मन में पन्त जी का आदर था। फिर भी वे इस आदेश को देख कर भीचक रह गये। उन्होंने तुरन्त पन्त जी को बुलाया। पन्त जी जब राजभवन पहुँचे, तो कलक्टर गवर्नर के बरामदे में बैठा था। उसकी तरफ बिना देखे पन्त जी कमरे में चले गये। गवर्नर ने गम्भीर भाव से कहा—“आई० सी० एस० अफसर सीधे गवर्नर के चार्ज में हैं। मन्त्री लोग उनकी सविस में झूठ-उधर नहीं कर सकते।”

पन्त जी ने समुद्र की सी गम्भीरता के स्वर में कहा—“कानून में हम उन्हें 'डिसमिस' नहीं कर सकते, उनका वेतन नहीं घटा सकते, पर कानून ने हमें यह अधिकार तो दिया है कि हम उनसे काम लें। इस आदेश में उनका कोई अपमान नहीं किया गया। जिले की एक तहसील खराब हो रही थी, एक योग्य आदमी के रूप में उन्हें वहाँ व्यवस्था करने का कार्य सौंपा गया है।”

गवर्नर ने पन्त जी की तरफ देखा, पट्टे अब उनके सामने कोई मनुष्य नहीं, कुमायूँ का पूरा पहाड़ था, जो किसी से टूट नहीं सकता और कोई उसे तोड़ने की कोशिश करे तो खुद



टूट जाये। पन्त जी उठ कर चल पड़े, बरामदे में जरा रुके, कलक्टर की तरफ मुड़े और कहा—आप बिना मुझसे पूछे, अपना स्थान छोड़कर यहाँ आये हैं। जवाबतलबी का नोटिस आपको भिजवा रहा हूँ, जवाब देने को तैयार रहिये।” गोरे बहादुर की आत्मा तक झन्ना गई और उस समय तो सूख ही गई, जब गवर्नर ने उनसे कहा—“आपके पास दो ही रास्ते हैं। पहला यह कि पन्त जी से क्षमा मांगें और दूसरा यह कि त्याग-पत्र देकर घर लौट जायें। कलक्टर पन्त जी के पास गया, पर पन्त जी की शासन-कला का चमत्कार कि वे उसे हाकिम नहीं, अपने प्रेमी पिता दिखाई दिये। पन्त जी ने उसे रफी साहब के पास भेजा और रफी साहब ने संसदीय सचिव के पास। इस तरह उसका पूरा दर्प कुछ ही घण्टों में झड़ गया और उसका दर्प क्या झड़ गया, पूरी अंग्रेज अफसरशाही का दर्प झड़ गया।

अब मन्त्रिमण्डल ने किसानों के कष्टों पर ध्यान दिया। यह विभाग रफी साहब के हाथ में था। उन्होंने आगरा टेनैन्सी एक्ट और अवध रेन्ट एक्ट दोनों को रद्द करके यू० पी० टेनैन्सी एक्ट पास कराया। भविष्य में जमींदारी-उन्मूलन कर उत्तर प्रदेश ने देश को जो प्रगतिगामी मार्गदर्शन दिया, यह उसकी भूमिका थी। बहुत अड़ंगेबाजी की गई इसमें, इतने अधिक संशोधन पेश किये गये कि बहुत समय खराब हुआ, पर यह पास हो गया। किसान लोग कर्ज से दब कर कराह रहे थे। इसके लिए खून जाँच-पड़ताल की गई और तब एक कानून बनाया गया। पिछले तीन वर्षों का वकाया कोई तीन करोड़ रुपया छोड़ दिया गया। इस प्रकार किसानों को भरपूर राहत दी गयी।

एक उल्लेखनीय बात यह हुई कि विरोधी दल सरकारपरस्तों का था। फिर भी उसे विश्वास में रखा गया और विरोधी दल के नेता सर महाराज सिंह का सहयोग लिया गया। बंगाल की जेलें तो राजबन्दियों से भरी हुई थीं ही, पर उत्तर प्रदेश में भी अनेक राजबन्दी थे। मन्त्रिमण्डल ने उन्हें रिहा करने का निर्णय किया। गवर्नर इससे सहमत नहीं हुआ तो मन्त्रिमण्डल ने त्याग-पत्र दे दिया। अन्त में गवर्नर को झुकना पड़ा, राजबन्दी छोड़े गये और त्यागपत्र वापस हुआ। इस प्रकार, उत्तर प्रदेश के मन्त्रिमण्डल का कार्य प्रांतीय होकर भी सारे देश में प्रशंसित हुआ और उससे उत्तर प्रदेश में आजादी की लड़ाई का मोर्चा मजबूत हुआ।

\* \* \*



## 19 : सर बांधे कफनिया हो

एक सितम्बर, 1939 को दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकार ने बिना हिन्दुस्तानियों से पूछे 3 सितम्बर, 1939 को यह घोषणा कर दी कि हिन्दुस्तान भी इस युद्ध में शामिल हो गया है। अंग्रेज सरकार कांग्रेस के पूछने पर भी यह बताने को तैयार नहीं हुई कि इस युद्ध का उद्देश्य क्या है और इसकी जीत का लाभ हमारे देश को मिलेगा या नहीं? इस पर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया।

कांग्रेस का रामगढ़ में जो अधिवेशन हुआ, उसने इसका समर्थन किया। सुभाष चन्द्र बोस ने कांग्रेस छोड़ दी और फारवर्ड ब्लाक बनाकर देश में काम शुरू किया। वे युद्ध की परिस्थितियों को देश के लिए बरदान मानते थे और उग्र कार्यक्रम चाहते थे।

यदि अंग्रेज सरकार कांग्रेस की बात मान ले, तो युद्ध में कांग्रेस उसे क्या मदद देगी? यह गम्भीर प्रश्न सामने था। गांधी जी सिर्फ नैतिक मदद देने की बात सोचते थे, पर कांग्रेस ने पूना के महासमिति अधिवेशन में राजगोपालाचार्य का यह प्रस्ताव सरदार पटेल के समर्थन से पास कर दिया कि, "विदेशी आक्रमण और देश के भीतरी उपद्रवों में अहिंसा की नीति लागू न होगी।" गांधी जी कांग्रेस से अलग हो गए।

अंग्रेज सरकार पर इस प्रस्ताव का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब 15 सितम्बर, 1940 से व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया गया। इसमें सत्याग्रही नारा लगाता था कि युद्ध में किसी तरह का सहयोग देना प्राप है और गिरफ्तार हो जाता था। इसमें हजारों सत्याग्रही जेल गए। उत्तर प्रदेश ने इसमें जमकर हिस्सा लिया और जेल जाने के उम्मीदवारों की लिस्ट काफी भारी हो गई। सुभाष चन्द्र बोस अपने ही घर में नजरबन्द थे। वे सरकार के गुप्तचर विभाग की आँखों में धूल झाँक कर 17 जनवरी, 1941 को पूरा हिन्दुस्तान रेल से पारकर पेशावर के रास्ते विदेश चले गए। इससे देश के वातावरण में नई उत्तेजना फैली।

जून, 1941 में युद्ध का रंग बदल गया, क्योंकि जर्मनी के फ्यूहरेर हिटलर ने अपने अब तक के साथी रूस पर चढ़ाई कर दी और 7 दिसम्बर, 1941 को जापान भी युद्ध में



कूद पड़ा। स्थिति नाजुक हो गई, क्योंकि युद्ध अब भारत की ओर भी आ गया। जनवरी, 1942 में युद्ध-विरोधी व्यक्तिगत सत्याग्रह बन्द कर दिया गया और जापान का आक्रमण हो, तो देश की रक्षा कैसे होगी, इस पर ध्यान दिया जाने लगा। खास बात यह है कि अंग्रेजों की बहादुरी का जो रोब हिन्दुस्तानियों के मन पर था, वह धुल गया और उनकी कायरता सामने आ गई, क्योंकि हांगकांग, मलाया, सिंगापुर और बर्मा से अंग्रेज भाग खड़े हुए और इन देशों की जनता ने अथाह दुःख भोगे। बर्मा के भारतीयों पर मुसीबतों का पहाड़ ही टूट पड़ा और उन्हें हिन्दुस्तान की तरफ पैदल भागना पड़ा। जापान का आक्रमण होने पर हिन्दुस्तान की भी यही दशा होगी, कांग्रेस की यही मुख्य चिन्ता थी। अंग्रेजों के साथी चीन और अमरीका भी इस बात को समझ रहे थे और हिन्दुस्तान से समझौता करने का जोर अंग्रेजों पर डाल रहे थे।

इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री चर्चिल ने 11 मार्च, 1942 को पार्लियामेंट में भारत के साथ समझौते का एक प्रस्ताव पेश किया। सर स्टैफर्ड क्रिप्स उसे लेकर 29 मार्च, 1942 को हिन्दुस्तान आये और नेताओं से मिले। गांधी जी ने उनके प्रस्ताव को 'ऐसे बैंक का पोस्ट डेटेड चैक, जिसका दिवाला निकलने वाला हो' बताकर ठुकरा दिया। क्रिप्स 11 अप्रैल, 1942 को लौट गए।

सुभाष चन्द्र बोस काबुल से जर्मनी पहुंच गए थे। वह 26 जनवरी, 1942 को उन्होंने जर्मनी के फ्रांकनबर्ग नगर में आजाद हिन्द फौज की स्थापना की। अपने सैनिकों से उन्होंने कहा—“मुझे मौत की शिकस्त देने की हिम्मत रखने वाले स्वयंसेवक चाहिए। आजादी या मौत के इस भीषण संग्राम में मेरा साथ देने वालों को मैं साफ-साफ कह देना चाहता हूँ कि मेरे पास उनके लिए फूलों की कोई सेज नहीं है। उन्हें देने के लिए न मेरे पास जमीनें हैं, न नौकरियाँ। मेरे पास तो फकत मौत, भूख, प्यास, नंगी तकलीफें और मुसीबतें हैं। हाँ, हमारे साथ उन करोड़ों देश-भाइयों और देश-बहनों का आशीर्वाद है और स्नेह है, जो आज हिन्दुस्तान के अन्दर विदेशी सत्ता से टक्कर ले रहे हैं।”

हिन्दुस्तान में खतरा भी बढ़ रहा था और गुत्सा भी। गांधी जी तो उफन ही रहे थे। उनकी कलम आग उगल रही थी। 26 अप्रैल, 1942 के 'हरिजन' में पहली बार गांधी जी ने “अंग्रेजों, भारत छोड़ो” आन्दोलन की बात कही—“हिन्दुस्तान के लिए चाहे इसका नतीजा कुछ भी ही, भारत की ओर इंग्लैंड की सच्ची सुरक्षा इसी में है कि अंग्रेज व्यवस्था और शान्तिपूर्वक समय रहते भारत से चले जायें।” गांधी जी ने भविष्यवाणी की—“यह एक ऐसा आन्दोलन होगा कि इसका महत्व समस्त संसार अनुभव करेगा और यह तो निश्चित है कि इसकी ओर अंग्रेजों का ध्यान आकृष्ट होगा।”

यदि हिन्दुस्तान स्वतन्त्र हो, तो जापान के आक्रमण का मुकाबला कैसे करेगा? इस प्रश्न पर गांधी जी तैयार थे कि अंग्रेजी फौज युद्ध के समय तक यहां रहे और इस पर भी



अंग्रेजों ने कांग्रेस की एक नहीं सुनी। तब 7-8 अगस्त, 1942 को कांग्रेस महा-समिति ने बम्बई में "अंग्रेजों, भारत छोड़ो" का प्रस्ताव पास कर दिया। इस पर बोलते हुए गांधी जी ने भाव-विभोर स्वर में कहा—“पूर्ण गति-अवरोध, हड़ताल और समस्त अहिंसात्मक साधनों का प्रयोग करके प्रत्येक व्यक्ति अहिंसा के दायरे में चरम सीमा तक जाने के लिए स्वतन्त्र है। सत्याग्रही मरने के लिए बाहर जायें, जीने के लिए नहीं। राष्ट्र का उद्धार केवल उसी अवस्था में होगा, जबकि लोग मृत्यु को ढूँढ़ने और उसका सामना करने के लिए बाहर निकलेंगे। हमारा नारा है—करेंगे या मरेंगे।” 9 अगस्त, 1942 को सुबह-ही-सुबह गांधी जी गिरफ्तार हो गये, दूसरे अधिकांश नेता भी और देश-भर में कांग्रेस कार्यकर्ता इस तरह दबोचे गए कि कांग्रेस का नाम लेने वाला भी कोई न बचे, पर हुआ यह कि नेताओं के न रहने पर हर आदमी अपना नेता हो गया और देश में संसार की सबसे बड़ी जन-क्रान्ति उभर उठी।

उत्तर प्रदेश इस जनक्रान्ति के समय क्या कर रहा था? उत्तर प्रदेश; अतिशयोक्ति और पक्षपात न समझा जाये, तो कहना चाहिए कि उत्तर प्रदेश ने ही इस जन-क्रान्ति का स्वप्न देश में सबसे पहले देखा था और स्वप्नद्रष्टा थे रफी अहमद क़िदवई। उनकी इस दृष्टि का अभिनन्दन कि 1939 में मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र देते ही वे आने वाले आन्दोलन की रूपरेखा बनाने लगे थे। यह रूपरेखा पूरी तरह क्रान्तिकारी थी, विध्वंसात्मक थी, चोरी-छिपे की थी और तोड़फोड़ की थी। रफी साहब के दिमाग में कैसे आन्दोलन की रूपरेखा थी, यह इसी से स्पष्ट है कि आन्दोलन से पूरे दो साल पहले 1940 की ठीक दीवाली के दिन उन्होंने अपने विश्वसनीय साथी जगन प्रसाद रावत को बम्बई भेजा था। वहाँ से जो कुछ वे लाये थे, वह वही ट्रान्समीटर था, जिसके द्वारा बाद में लाल बहादुर शास्त्री ने आजाद रेडियो का संचालन किया। 'सैनिक' के सम्पादक श्रीकृष्णदत्त पालीवाल का पूरा नेतृत्व रफी साहब की योजना को मिला था। इस योजना को संगठित करने के लिए रावत जी, श्रीराम शर्मा, प्रोफेसर राधेश्याम शर्मा आदि ने भरपूर सहयोग दिया था। श्रीराम शर्मा तो उत्तर प्रदेश में जनक्रान्ति की भुजा ही थे। उन्होंने जितना किया और उनके परिवार ने जितना सहा वह सब रोमांचकारी है। बम्बई के कई चक्कर लगे थे और खूब अस्त्र-शस्त्र एवं विस्फोटक इकट्ठे किये गये थे, जिन्होंने बाद में उत्तर प्रदेश में अंग्रेजी सरकार के खूब छक्के छुड़ाये।

1942 की जनक्रान्ति में उत्तर प्रदेश ने जो ऐतिहासिक चमत्कार किया वह यह था कि आन्दोलन गांधीवादी दृष्टिकोण से भी शत-प्रतिशत पूर्ण था और सशस्त्र दृष्टि से भी। उसके शहीदों की गाथा उसके गांधीवादी पक्ष पर और उसके विस्फोटक कार्य उसके सशस्त्र क्रान्ति के पक्ष पर पूरी रोशनी डालते हैं। कहना चाहिए, उत्तर प्रदेश में 1942 ने एक सशस्त्र जनक्रान्ति का परिपूर्ण रूप प्रस्तुत किया।



8 अगस्त, 1942 को जब "भारत छोड़ो" प्रस्ताव पास हुआ, लाल बहादुर जी भी वन्द्य में थे। पुलिस का घेरा और सी० आई० डी० की आंखें तेज थी, पर वे किसी दूसरे स्टेशन से गाड़ी में चढ़े और इलाहाबाद के लिए चल पड़े। इलाहाबाद के स्टेशन पर इतनी पुलिस थी कि एक मच्छर भी नहीं बच सकता था, फिर लालबहादुर जी को सब जानते थे और वे खदर के वेश में थे। लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय' इलाहाबाद में ही थे और आन्दोलन में काम कर रहे थे। उनके मन में दैवी प्रेरणा हुई कि इस गाड़ी से जो भी आयेगा, पकड़ा जायेगा। उन्हें पुलिस पहचानती न थी। वे आगे के स्टेशन पर जा पहुंचे। शाम के झुटपुटे में उन्होंने शास्त्री जी और उनके साथियों को उतार लिया और उनके पास जो भी प्रस्ताव आदि साहित्य था, वह उनसे ले लिया। उन्हें दूगरी तरफ का जंगला कुदाया और उनकी टोपी भी अपनी जेब में रख ली। इस तरह शास्त्री जी पुलिस की निगाहों से बचकर ठिकाने पर पहुंचे।

तमाम उत्तर प्रदेश में भेजने के लिए खूब साहित्य तैयार हुआ। गुप्त कामों के लिए तो एक रुपये की जगह चार रुपये खर्चने पड़ते हैं, पर रुपये कहाँ थे? शास्त्री जी ने हेमवती नन्दन बहुगुणा से यह बात कही। हद हो गई आत्मविश्वास की कि उनका उत्तर था 'हाँ, रुपया अवश्य मिलेगा।' दस-पन्द्रह हजार रुपये की जरूरत थी, पर बहुगुणा इस स्थिति में कहाँ थे? पर उनके आत्म विश्वास का उत्तर था, रुपया मिलेगा। वे इलाहाबाद के छात्र नेताओं में थे और पुलिस की निगाहों में चढ़ चुके थे। उनका एक मित्र सुरक्षित जगह देखकर उन्हें किसी दिन किसी के और किसी दिन किसी के घर सुला आता था। एक बंगाली छात्र ने उस मित्र से कई बार बहुगुणा से मिलाने को कहा था। एक दिन बहुगुणा को कहीं जगह न थी, तो वह मित्र उन्हें उसी विद्यार्थी के घर ले गया। बहुगुणा को देखकर वह झिझका। बोला—"पिता जी से पूछता हूँ।"

बहुगुणा के लिए कठिन परिस्थित थी। भीतर जाकर उसने पिता से पूछा तो चीत्कार के स्वर सुनाई दिये—"कौन तुम्हारा मित्र?" विद्यार्थी सकपकाया-सा बाहर आया और उन्हें भीतर चलने को कहा। परिस्थिति गम्भीर थी, पर कोई दूसरा मार्ग भी न था। बहुगुणा भीतर गये। पिता ने उन्हें ऊपर-नीचे देखा और अपने उसी स्वर में पूछा—"तुम बहुगुणा?" बहुगुणा ने सिर हिलाया। उन्होंने फिर पूछा—"तुम क्या लेगा?" बहुगुणा चुप। वे फिर बोले—"रुपया।" उठकर वे क्रमरे में गये, झपट्टे से। बहुगुणा को लगा कि हुआ टेलीफोन और आई पुलिस, पर वे भीतर से आये, तो 18 हजार रुपये की नोटों की गड़ियाँ उनके हाथों में थी, चेहरा उल्लसित और यह आशीष—"लो बेटा, खूब काम करो, अंग्रेज को भगाना है।" ये ह्वीलर कम्पनी के मालिक तीन कौड़ी बाबू थे, जिनका कभी राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रहा था। इसी रुपये से कार्यकर्ता इधर-उधर गये और इलाहाबाद, काशी और लखनऊ विश्वविद्यालय संगठित होकर क्रान्ति में आगे बढ़े। हाँ तो उत्तर प्रदेश में 1942 का आन्दोलन पूर्ण जनक्रान्ति के रूप में चला-फला। विश्वविद्यालय के छात्रों ने जो कार्य किये, उनकी कथा लम्बी है। खस्र बात यह कि इन कार्यों में व्यवस्था थी। उदाहरण के लिए काफी दिनों तक कई जगह रेलों पर उनका कब्जा रहा, पर रेलें व्यवस्थित रूप से चलती



रहीं। जिन थानों पर उन्होंने कब्जा किया, उन थानों के क्षेत्र में अपराधों की रोकथाम ऐसी हुई कि जैसे पहले कभी न हुई थी। सरकार के पूरी शक्ति लगाने पर आगरा विश्वविद्यालय अगस्त, 1942 से दिसम्बर, 1942 तक बन्द रहा। विश्वविद्यालयों का कार्य शानदार रहा और उन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में शासन व्यवस्था को मसल डाला। काशी विद्यापीठ, दासलुलूम और गुरुकुल कांगड़ी तो खड़े ही राष्ट्रीयता की नींव पर थे। ये कैसे चुप रहते? 1930-1932 की तरह इस जनक्रांति में भी भरपूर हिस्सा लिया।

बलिया में तो पूर्ण स्वराज्य ही हो गया। चीतू पाण्डेय, जो जिला कांग्रेस के अध्यक्ष थे, कई दिनों तक जिलाधीश की तरह आदेश देते रहे और जिलाधीश, पुलिस कप्तान सिर झुका कर आदेशों का पालन करते रहे। आन्दोलन पहले दिन ही अपने पूर्ण रूप में चमक उठा। नेताओं को 9 अगस्त को ज्यों ही जेल में बन्द किया गया, वे जेल से भागने की योजना बनाने लगे, पर जिले के गाँव-गाँव में कांग्रेस का प्रचार हो चुका था और पूरा जिला संघर्ष के लिए तैयार था, इसलिए 19 अगस्त को दस हजार की भीड़ ने जेल को घेर लिया। जिलाधीश भीड़ की उत्तेजना देख कर स्वयं जेल में पहुँच गये थे और नेताओं से बात कर ही रहे थे कि भीड़ ने दरवाजा खोल दिया। सब टाउन हाल पहुँचे, नेता सोच-विचार कर आन्दोलन की योजना बनाना चाहते थे, पर भीड़ इसी समय सब कुछ करने को उताहरी थी।

महानन्द मिश्र और विश्वनाथ चौबे ने युवक नेताओं से कहा—‘आप अपना काम करें, मीटिंग होती रहेगी।’ बस फिर क्या था। जिलाधीश का दफ्तर, मुंसफी, सब जजों, एस०डी०ओ० का दफ्तर, पुलिस चौकियाँ और स्टेशन सबको लूटा गया, फूँका गया। बस शाम तक बलिया विद्रोहियों के कब्जे में आ गया।

दो दिनों में ही गडवार, हलधरपुर, उभाँव थानों पर भी कब्जा हो गया। बैरिया का थाना अपनी शहादत के कारण खूब चर्चित हुआ। वहाँ के थानेदार ने 15 अगस्त को गांधी टोपी पहन ली, गांधी जी की जय बोल दी, तिरंगा झण्डा थाने पर लगा दिया और भीड़ के साथ नारे लगाता हुआ भी थोड़ी दूर गया। भीड़ ने रास्ते की गाँजा, भाँग, शराब की सब दुकानों को तोड़ा-फोड़ा और सुरेमनपुर का स्टेशन फूँक दिया।

बैरिया के थानेदार ने शाम को ही झण्डा और गांधी टोपी उतार दी, इसलिए 18 अगस्त को भीड़ फिर थाने पर पहुँची। आज झण्डा लिए कई बहनें भी साथ थीं, पर आज थानेदार लड़ने को तैयार था। थाना बन्द और सब सिपाही थाने की छत पर संगीनें चढ़ाये हुए। नेता लोग थानेदार से बातें करने लगे, पर इतनी ही, देर में कौशल कुमार नाम का युवक पीछे की तरफ से थाने पर चढ़ गया और फुर्ती से यूनिफॉर्म जैक फेंक कर उसने तिरंगा फहरा दिया और चिल्लाया—इनकलाब जिन्दाबाद। संगीनधारी सिपाहियों के मुँह काले पड़ गये, पर तभी वे तमतमा उठे गुस्से से और उन्होंने गोली न चला, कौशल कुमार को संगीनो के बीच घेर लिया। अब देव-दानव के संग्राम का एक अगुपम दृश्य। दो-तीन सिपाहियों ने



एक साथ मञ्च से कीर्णल कुमार के शरीर में संगीत भाँक दी और उसने नारा लगाया—  
इनकलाब जिन्दाबाद । संगीत शरीर में निर्दयता के साथ बाहर निकली और युवक के सामने  
तनू गई । खून के दो-तीन फीव्वारे छूटे । तभी दूसरी तरफ से 2-3 संगीत ब्रेड में भोक दी  
गई । यों ही थोड़ी देर यह संगीतबाजी हुई, पर हरेक संगीत की कीर्णल कुमार ने इनकलाब  
के नारे से टकराया । खून खूब बहा और वह निर्जीव होकर गिरने लगा, तो उसे संगीतों पर  
उठाकर नचाया गया और फिर नीचे फेंक दिया गया । उसके साथ ही तिरंगा झण्डा भी नीचे  
फेंक दिया गया । झण्डा उसके शव पर गिरा, जैसे भारत माता ने अपने शहीद पुत्र को यह  
राष्ट्रीय सम्मान दिया हो ।

यह सब मिनट भर में हो गया और जनता कुछ निश्चय करे, इससे पहले ही भीड़  
पर थाने की छत से अन्धधुन्ध गोलियाँ बरसने लगी । पीठ बाजार का दिन था । तमाशा  
देखने को ही बहुत से लोग आ चुके थे, इसलिए वे भी मरे, जो थाने पर कब्जा करने आये  
थे और वे भी, जो यों ही आस-पास भा खड़े हुए थे, पर कोई भागा नहीं, घबराया नहीं  
और यह संकल्प अपना रूप लेने को ही था कि चारों ओर से घेर कर थाने पर कब्जा किया  
जाये, कि मूसलाधार वर्षा होने लगी—शायद कीर्णल कुमार की सहायत पर प्रकृति रो पड़ी  
थी, शायद बूंदों के रूप में स्वर्ग के देवता पुष्पवृष्टि कर रहे थे । जो भी हो, जो भीड़ गोलीयों  
की वर्षा में खड़ी रही थी, वह बूंदों की वर्षा में तितर-बितर हो गई और थानेदार सादे वेश में  
अपने परिवार और सिपाहियों के साथ भागने में सफल हो गया ।

23 अगस्त, 1942 को बलिया फौज के हाथों सीप दिया गया । गवर्नर के सलाह-  
कार नोदरसोल और मास भी साथ आये । चारों ओर भीषण रक्तपात हुआ, आतंक की  
आधियाँ उठ गई और बलिया पर फिर अंग्रेजी राज्य कायम हो गया और गवर्नर की तार  
भेजा गया—‘बलिया रिकॉर्ड’ यानी ‘बलिया को दुबारा जीत लिया गया ।’

26 जनवरी, 1943 को वायसराय लार्ड वेवेल के राजमहल के सामने विजय चौक,  
नई दिल्ली में झण्डा फहराने का जो चमत्कारी और शत्रु सम्मानहारी महोत्सव हुआ, वह भी  
उत्तर प्रदेश की ही विभूति का कारनामा था । दिल्ली में जिस पर दूर का भी संदेह था,  
वह भी पकड़ लिया गया था और गवर्नमेन्ट को रिपोर्ट दे दी गई थी कि अब कही पता  
नहीं खड़क सकता, पर सत्याग्रह कौंसिल नई दिल्ली में स्वाधीनता-दिवस मनाने का निश्चय  
कर चुकी थी । उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बंगाल के स्वयंसेवकों ने इसमें भाग लिया और  
नेतृत्व किया उत्तर प्रदेश के सशक्त कवि और उस समय फरार श्रीराम शर्मा ‘प्रेम’ ने ।  
सेक्रेट्रियेट में ज्यों ही भोजन का अवकाश हुआ, त्यों ही 18 खादी वेशधारी, हण्डों पर तिरंगे  
झण्डे लगाये स्वयंसेवक विजय चौक पहुँच गये । उनके नारों से विजय चौक खूब गूँजा । खबर  
पाकर पुलिस आई तो अफसर हकबकाये हुए थे । उनका प्रश्न था—“तुम कहाँ से आ मरे  
यहाँ ?” सत्याग्रह कौंसिल, जिसने अन्त तक सत्याग्रह का संचालन किया, उसमें उत्तर प्रदेश  
के ब्राह्म राघव दास और सुचेता कृपलानी थी और जो छः आदमी सरकार के द्वारा इनमों



की घोषणा करने पर भी न पकड़े जा सके उनमें हीराबल्लभ त्रिपाठी और अच्युत पटवर्धन, ये दो उत्तर प्रदेश के ही वीर थे ।

1944 में उत्तर प्रदेश के अनेक नेता जेलों से छूटे, पर कांग्रेस तब भी गैरकानूनी थी । इसलिए पुरुषोत्तम दास टण्डन जी के नेतृत्व में प्रान्तीय कांग्रेस असेम्बली के नाम से एक संगठन बनाया गया । यह संगठन तब तक काम करता रहा, जब तक कांग्रेस पर से पाबंदी नहीं हटी ।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि 1942 की जनक्रान्ति ने अंग्रेजी सरकार की पसलियाँ तोड़ दी और इसमें उत्तर प्रदेश ने जो भाग लिया, वह उसके इतिहास का गौरवपूर्ण अध्याय है ।



## 20 : शहीदों की टोली निकली

जिले के नादिरशाह कलक्टर ने दावा किया कि मेरे जिले में कहीं कोई झण्डा नहीं फहरा सकता। हरद्वार के कोतवाल ने डोंडी पिटवाई कि जो कोई झण्डा फहराने, जुलूस निकालने, जलसा करने की कोशिश करेगा, उसे वहीं गोली मार दी जायेगी। जगदीश ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज का छात्र; उसने डोंडी सुनी, तो अपने से कहा—अच्छा यह बात है।

लाल अंगोछे में झण्डा लपेटे वह हरद्वार के देश-प्रसिद्ध तीर्थ ब्रह्मकुण्ड की ओर चला, जैसे कोई भक्त धोती लिए स्नान करने जा रहा हो। चारों ओर पुलिस का पहरा, पर जो मोत के पहरे में जिन्दगी के नक्शे बना चुका, उसे क्या भय? लो, फहरा दिया उसने एक ऊँची जगह तिरंगा और गूँजा नारा—इनकलाव जिन्दावाद। दूर से अफसर बिल्लाया—‘फायर’ और गोली ने जगदीश की दाहिनी जाँघ उधेड़ दी। आधा अंगोछा उस पर बाँध जगदीश भीड़ में घुस गया। वह चला स्टेशन की तरफ, पुलिस को जान-बूझ कर किसी ने बताया भीमगोडे की तरफ। पुलिस उधर भागी, जगदीश स्टेशन का आधा रास्ता पार कर पोस्ट ऑफिस पहुँच गया और जगदीश ने उसमें आग लगा दी। किसी कर्मचारी ने प्रतिवाद नहीं किया।

एक घुड़सवार उधर से निकला और दाग दी उसने बन्दूक। गोली दूसरी जाँघ में लगी। बाहरे बलिदानों जोश, आधा अंगोछा उस पर बाँधा और पिछले रास्ते से स्टेशन पहुँच गया। कोतवाली से आई पुलिस जब उसे डाकखाने पर तलाश कर रही थी, वह स्टेशन पर झण्डा फहराने के बाद नारे लगा रहा था। तीसरी गोली उसके पेट में घुस गई, वह गिर पड़ा। क्या था उसमें, पर सरकार जनक्रान्ति से इतनी भयभीत थी कि उस मरणासन्न वीर को एक डिब्बे के स्पेशल ट्रेन में देहरादून ले गई। वहीं अस्पताल में जगदीश ने शहादत का पूरा प्याला पीकर वीरगति प्राप्त की।

कहाँ हरद्वार, कहीं देवरिया—उत्तर प्रदेश के दो आर-पार किनारे। घूसी के स्कूल



से उठ कर 1 छोट्टा सा बूढ़ा आदमी। उसने देवरिया के पुलिस स्टेशन पर पहुँचा। स्कूल से दोस्रो छात्र साथ चले थे, पर रास्ते में देवरिया के पुलिस आतंक की बातें सुन-सुनकर समझदार छात्र छिटक गए। खेत पर किसान फावड़ा चला रहे थे। रामचन्द्र ने ज़िद की—“फावड़ा लो और मेरा सिर काट कर देवरिया ले जाओ। लोगों से कहो इस तरह मरे देश के लिए।”

बड़ी मुश्किल से साथियों ने उसे रोका। पुलिस की आँखों से बच कर सातों किशोर देवरिया की कचहरी में पहुँचे। कचहरी की कचहरी के सामने पुलिस ही पुलिस; ऊपर फहराता यूनिन जैक। रामचन्द्र की आँखों में उसकी फहरान काटि-सी चुभी। मौत का नशा उस पर सवार, अंग-अंग में स्फूर्ति—करेंगे या मरेगे। पुलिस की आँख बचा कर वह कचहरी के पीछे जा पहुँचा और उसने अपने साथियों की सीढ़ी बना कर छत पर पहुँचने में सफलता पा ली। एक झटके में यूनिन जैक उतरा और तिरंगा फहराया—इनकलाब जिन्दाबाद। पुलिस चौकी, पर तब तक अपने साथियों की सीढ़ी से रामचन्द्र नीचे और सातों नौ-दो-थारह।

रामलीला के मैदान में भीड़, शायद कोई जलसा। पहुँचे ये वहाँ कि फायरिंग शुरू। भागे लोग, पर भागतों पर भी गोलियों और लाठियों की वर्षा। रामचन्द्र दौड़ कर सिपाहियों के पास और यह करारी ललकार—“उन भगोड़ों को क्यों मारते हो? मुझे मारो।” मजिस्ट्रेट एक बार स्तब्ध, फिर क्रुद्ध—“मरना चाहता है?”

छोटे स्तूप-सी तनी देह, तेजोदीप्त मुख-मण्डल, छाती पर हाथ—“हां, यहाँ मारो।” मजिस्ट्रेट ने पिस्तौल निकाली और गोली दाग दी। रामचन्द्र के कई साथी भी घायल, पर कोई घबराया नहीं। रामचन्द्र गिर पड़ा, पर झण्डा उसके हाथों में,—पुलिस छीनने में असफल। एक टूटी-सी खाट पर खून से लथ-पथ झण्डे के साथ रामचन्द्र। साथी उसे अस्पताल ले गए, पर घोर लापरवाही। रामचन्द्र का साथियों को संदेश—“मेरी तरह मरना, पर मैदान न छोड़ना।” खून की एक कै और समर्पण पूर्ण।

सशत्रुक्रान्ति के शहीद रामप्रसाद ‘विस्मिल’ और अण्फाक उल्ला खान का जिला शाहजहाँपुर। मुल्तानपुर के अहिंसक वीर सुन्दर लाल गुप्त। देश की गुलामी से कलेजे में तीर की तरह चुभन। 1930 में यह व्रत कि जब तक देश, गुलाम है, विवाह नहीं करूँगा। रात दिन काम, साइकिल पर जिले का दौरा, जेल यात्रा। 1932 में राक्षसी दण्ड की इतिश्री—पूरे तीस बेंतों की सजा; शायद गेंडा भी काँप उठे, पर हर बेंत पर गांधी जी की जय और इनकलाब जिन्दाबाद। 1937 के चुनाव में एक दिग्गज को परास्त कर-विजयी और 1942 में कई बार जेल यात्रा। जेलों में दारुण-यातनायें, मन अजेय पर तन जर्जर। जेल गए योद्धा वीर की तरह और वहाँ से शव निकला शहादत की होली खेक कर।

गाजीपुर का एक गांव शेरपुर। एक ऐसा गांव जिसने स्वाधीनता के यज्ञ में अनोखी आहुति दी। आजादी के कुछ दिवानों ने तहसील पर तिरंगा झंडा फहराने का फैसला कर



कर लिया। एमिआमंड सेमानी अश्विष्विनका अण्डपण्ड्यमिको बानबुन के बाउजीवानों की एक टोली तैयार की जिसने एक स्थानीय चिकित्सक डा० तिलेश्वर राय (दादा जी) के नेतृत्व में उक्त उद्देश्य को लेकर प्रयास किया। उनका इरादा यह था कि तहसील पर पीछे से हमला बोल दें और दो-दो जवान पुलिस के एक-एक सिपाही को चकमा देकर इस तरह पकड़ कर मजबूर कर दें कि वह गोली न चला सकें। उन जवानों ने यह भी तय किया था कि वे गांधीवादी तरीके से अपना उद्देश्य पूरा करेंगे और हर संभव कोशिश करेंगे कि वे संघर्ष से बिरत रहें।

डा० तिलेश्वर राय जोशीले शब्दों में मर मिटने की भावना पैदा करते हुए टोली को आगे बढ़ा रहे थे। लगभग 15 हजार लोगों का यह जुलूस मुहम्मदाबाद के दक्षिणी छोर पर 'शहनिन्दा' नामक स्थल पर पहुंच कर एक सभा में बदल गया। वहाँ से जुलूस आगे उत्तर की ओर बढ़ा। आपार जन संमुदाय के नारों से लगना था मुहम्मदाबाद की ईंट-ईंट हिल रही है। बाजरे की लहलहाती फसल देशाभिमानीयों के मनोबल को बढ़ा रही थी और अस्ताचलगामी सूर्य लाल नेत्रों से पुलिस के जवानों को ताक रहा था। थोड़ी ही देर में जुलूस का अगला छोर तहसील के बरामदे तक जा पहुंचा जिसमें सबसे आगे थे डा० शिव पूजन राय और श्री जगदीश शर्मा।

श्री हृदय नारायण राय द्वारा हरी झण्डी दिखलाते ही जवान बाज के समान तहसील के पीछे तैनात पुलिस दल पर अपटे। दल के नायक डा० तिलेश्वर राय ने आदेश दिया 'वीरों आगे बढ़ो'। यह आवाज सुनते ही मरदानों में मदं श्वषीश्वर राय का वीरता भरा अप्रतिम करतव्य देखने को मिला। यह नंगे बदन कुछ हल्के गैरिक रंग की धोती घुटने तक पहने, कमर में डेढ़-दो गज का गमछा लपेटे दोनों हाथ ऊपर उठाकर बोले "पुलिस हमारे भाई हैं उनसे नहीं लड़ाई है।" जवानों से चार-पांच कदम की दूरी पर तैनात दो पुलिस कर्मियों ने कहा "मत आगे बढ़ो गोली चलेगी" लेकिन पुलिस की धमकी काम न आयी।

पुलिस ने डराने के लिए गोली चला दी। 'घाय-घाय' की आवाज सुनकर काफी लोग तितर-बितर भी हुए। लेकिन 8 लोग अपने प्राण हथेली पर लेकर "इसकी शान न जाने पाये, चाहे जान भले ही जाये" गाते हुए ऊपर चढ़कर तिरंगा लहराने के इरादे से खिड़की के रास्ते अन्दर बरामदे में घुसे।

तहसील के ऊपर तिरंगा लहराने की कोशिश करते जवानों को देख तहसीलदार आग बबूला होकर बोला—'नीचे फेंको झंडे को।'

'झंडा देश का गौरव है, इसे नीचे नहीं फेंका जाता, ऊपर फहराया जाता है।' किसी देशाभिमानी ने उत्तर दिया।

तहसीलदार ने क्रुद्ध होकर पुलिस को इशारा किया। 'घाय-घाय' की आवाज हुई। पहली गोली डा० राय को लगी। तहसीलदार ने फिर पूछा—फेंकता है झंडा या नहीं?

डाक्टर ने झंडा और ऊपर उठा लिया। शायद यही उनका उत्तर था। दूसरी गोली चली पेट में लगी। डाक्टर ने अपनी छाती पर हाथ रखकर कहा—'अब एक गोली मेरे कहने से यहां भी।' तीसरी गोली भी लगी और वह झंडा हाथ में लिए जमीन पर गिर गये। इसके बाद झंडा दूसरे जवान और दूसरे से तीसरे जवान के हाथ में गया। गोलियां चलती रही। पुलिस अपने इरादे पर डटी रही, देशाभिमानी अपने इरादे पर डटे रहे।



देखते ही देखते आठ जवान शहीद हो गये। तिरंग झंडे की शान को बढ़ाने के लिये उन्होंने आत्माहुति दे दी। इन देशभिमानी जवानों के नाम हैं:—डा० शिव पूजन राय श्री ऋषीश्वर राय (दादा जी) श्री नारायण राय, श्री वंश नारायण राय (पुत्र श्री योगेन्द्र राय), श्री वंश नारायण राय (पुत्र श्री ललित राय), श्री राम बदन उपाध्याय तथा श्री राजा राय तथा श्री वशिष्ठ नारायण राय।

विजयलक्ष्मी पंडित की बेटी, जस्टिस आनन्द नारायण भुल्ला की बेटी, एक पुलिस अफसर की बेटी, इलाहाबाद की त्रिवेणी में राष्ट्रीयता की यह त्रिवेणी। तीनों की साड़ी केसरिया और तीनों के हाथ में तिरंगे झण्डे। छात्रों के जुलूस का नेतृत्व करती भारत-माता की तीन पुत्रियाँ, जोश से उफनता वातावरण। कोतवाली के सामने अंग्रेज जिलाधीश, अंग्रेज पुलिस कप्तान, जुलूस को देखा तो चिल्लाये—‘भाग जाओ’ पर तंट पर खड़े भर-की दहाड़ से कहीं बहती गंगा मुड़ी है? नारे गूँजे—“महात्मा गांधी की जय, इनकलाब जिन्दाबाद।”

‘फायर!’ चिल्लाया कलक्टर और धड़धड़ाया बन्दूकों ने आसमान, लड़कियाँ घायल, पर अकंप, अडिग साहस; फिर गोलियाँ और लड़कियाँ घायल होकर जमीन पर। वातावरण सन्नाटे में, जुलूस शान्त। तभी रींवा के राजवंश का तरुण छात्र लालपद्मधर, जुलूस से कुछ गज आगे, आँखें कलक्टर की आँखों से मिली हुई, दोनों हाथ से कपड़ा हटा, छाती नंगी और यह ललकार—“लड़कियों पर गोलियाँ दागते तुम्हें शर्म नहीं आती? वे अकेली नहीं, हम भी उनके साथ हैं। मुझे मारो गोली।” कलक्टर चिल्लाया—“शूट हिम—मारो उसे।” और गोली सीने के आर-पार हो गई।

गोलियों ने ही जुलूम नहीं डाये, उन बेचारियों ने तो हमारे इतिहास में शहादतों के नक्षत्र चमकाये, असली जुलूम और ही थे। बलिया के महात्तन्द मिश्र की हथपों तक रोज रात में पिटाई हुई। पीटने वाला जय दफ आता, वे पूछते—“श्रीमान जी, अब कब दर्शन देंगे?” उन्हें दबोच कर जानवरों को दवा देने वाली नली से हंडिया भर पेशाब पिलाया गया। आगरा में 15 वर्ष के किशोर रमेश कुमार शर्मा को 59 दिन तक उसके पिता का भेद पूछने के लिए पीटा गया। पीटते-पीटते बेहोश हो जाना, और होश में आने पर फिर पीटना, बस यही दिनचर्या थी, पर क्या ऊपर के शहीद और महात्तन्द मिश्र या रमेश कुमार अकेले हैं? नहीं, हरेक के पीछे उसी तरह के बलिदानियों की एक लम्बी लाइन है। फिर गोली और बेंत-हुंटर ही तो नहीं थे, और भी बहुत-कुछ था। नंगा करके आग पर सेंकना, खुले आम मुर्गी बनाना, कमर पर कंकरी रख कर बन्दूक के क्रन्द से कमर को छेदना, उलटे टांग कर फोड़े लगाना, लाल मिर्चों की धूमी देना स्त्रियों को नंगी करके पीटना, उनके पवित्र अंग में मिर्च भरना, वृक्षों पर लटका कर पीटना, नंगा करके सड़कों पर घसीटना, पति के सामने पत्नी पर बलात्कार करना, गर्भिणी माताओं को नंगा करके सड़क पर घुमाना और माँ के सामने बेटे को हलाक करना भी जगह-जगह था। जौनपुर और दूसरी जगहों में सताने के जो नये प्रयोग किये गए, उनकी कथा तो सुनकर तो पुराने युग का वदनाम नूदिर शाह और इस युग का हिटलर भी शरमा जायेंगे। इस हालत में भी जो लोग कहते हैं, दावा करते हैं कि 1942 की क्रान्ति गांधी जी की जनक्रान्ति नहीं थी और भारत को समझौते की हेरा-फेरी में स्वतन्त्रता मिल गई है, संसार का कोई भी चिकित्सक उनके ‘अकल का वद-झंजमा’ रोग की चिकित्सा नहीं कर सकता।



## 21 : सामन्तवाद के दुर्गम दुर्गों में

काला काँकर और टिहरी; टिहरी और काला काँकर ।

उत्तर प्रदेश की जनता जब स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष का खूनी फाग खेल रही थी, तब उत्तर प्रदेश के सामन्तवादी दुर्गम दुर्गों में क्या हो रहा था ? देशी राज्य और ताल्लुकेदारियाँ क्या कर रही थीं ? इसी महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर है—काला काँकर और टिहरी; टिहरी और काला काँकर । काला काँकर उनका प्रतीक है, जो देश के साथ थे, देश की स्वाधीनता में हिस्सा ले रहे थे और गुलामी की बेड़ियों को काटने के इच्छुक थे और टिहरी उनका प्रतीक है जो देश के विरुद्ध थे, देश की गुलामी को मजबूत करने में अपनी शक्तियाँ लगा रहे थे और जो अंग्रेजों के राज्य को हिन्दुस्तान में अमर करवाना चाहते थे ।

उत्तर प्रदेश में काशी, टिहरी और रामपुर ये तीन देसी राज्य थे । अवध में देसी राज्यों को ताल्लुकेदार कहा जाता था । दोनों को बिना लायसेंस बन्दूक रखने जैसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे । तीसरे दर्जे में वे बड़ी जमींदारियाँ थीं, जिन्हें रियासत कहा जाता था । 1857 के स्वतन्त्रता विद्रोह के बाद अंग्रेजी सरकार ने शिक्षा-दीक्षा के द्वारा इन सभी को अपने शासन का यन्त्र बना लिया था । देश से तो इनका क्या वास्ता रहता, अपने राज्यों की जनता से, जिस पर इनकी शान-शोकत निर्भर थी, सिवा शोषण के और कोई वास्ता न था । इस स्थिति में भी जिन रियासतों के अधीश्वरों में देशभक्ति की भावना उगी, उभरी और जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता में योगदान किया, वे सचमुच वधाई के पात्र हैं ।

ऐसे लोगों में काला काँकर के राजा स्व० अवधेश सिंह सबसे पहले स्मरणीय हैं । असल में यह वंश सदा से ही ऐशभक्त रहा । उनके परदादा 1857 में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़े थे और शहीद हुए थे । कांग्रेस की स्थापना में इस वंश के बुजुर्ग ह्यूम साहब के सहयोगी थे । हिन्दी का प्रथम प्रमुख दैनिक 'हिन्दोस्थान' काला काँकर से ही निकला था और उसके संपादक पंडित मदन मोहन मालवीय बनाये गए थे ।



राजा अवधेश सिंह, कुंवर ब्रजेश सिंह और कुंवर सुरेश सिंह, तीनों ही भाई सदा देश के सेवक और आजादी के सिपाही रहे। 1920-21 में इलाहाबाद में विदेशी वस्त्रों की वह होली शानदार रही थी, जिसमें पंडित मोतीलाल नेहरू के घर के विदेशी वस्त्र जलाये गए थे और 1929 में काला काँकर की होली सबसे शानदार रही। जरी के काम के मखमली चन्दोये, साड़ियाँ आदि हजारों रुपये के वस्त्र जलाये गये। खास बात यह कि इस होली में आग लगाने के लिए स्वयं महात्मा गांधी जी काला काँकर आये थे। पूरा परिवार खट्टरधारी था। राजा अवधेश सिंह लाहौर कांग्रेस में गए थे और अदालत में जाकर सरदार भगतसिंह और उनके साथियों से भी मिले थे।

- 1930 के आन्दोलन में वे जेल जाने को बेचैन थे, पर सरदार पटेल ने उन्हें रोक दिया था और रियासत की जनता की सेवा में लगा दिया था। उन्होंने जनता के प्रतिनिधियों को शासन का प्रबन्ध सौंप दिया था। हरेक गाँव में झण्डा-प्रार्थना होती थी। दुर्भाग्यवश इस भाग-दौड़ में उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और 21 सितम्बर, 1934 को कुल सत्ताइस वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गई।

उनके छोटे भाई कुंवर ब्रजेशसिंह बचपन से ही युगधर्मी थे और एक बार गांधी टोपी पहन कर ताल्लुकेदार-स्कूल में चले गये थे। उन्हें स्कूल से निकाल दिया गया था। वे कांग्रेस-आन्दोलन में जेल गए और स्वतन्त्रता के बाद समाजवादी आन्दोलन में कांग्रेस-सरकार की जेल में भी रहे। बाद में रूस के अधिनायक स्टालिन की बेटी स्वेतलाना के साथ विवाह करने के कारण संसार-भर के पत्रों में उनकी चर्चा हुई। दुर्भाग्यवश उनका भी साथ बेवफा उम्र ने गंही दिया।

तीसरे भाई कुंवर सुरेश सिंह पढ़ाई छोड़ कर कांग्रेस के स्वतन्त्रता संग्राम में कूदे। 1930 का नमक सत्याग्रह उत्तर प्रदेश में रायबरेली से आरम्भ हुआ। वे ही उसके प्रबन्धक नियुक्त हुए थे। वहाँ खूब धूम मचाई, पर सरकार ने उन्हें गिरफ्तार नहीं किया। महामना मालवीय जी के साथ पेशावर गोलीकाण्ड की जाँच करने गये और उनके साथ ही गिरफ्तार कर पंजाब में छोड़ दिये गये। बाद में दफा 144 तोड़ कर लखनऊ में गिरफ्तार हुए और 6 महीने जेल में रहे। 1941 में भी 'भारत रक्षा कानून' में नजरबन्द किए गए और एक साल बन्दी रहे।

1930 में ही मनकापुर (गोंडा) के राजा के छोटे भाई कु० राघवेन्द्र प्रताप सिंह 144 धारा तोड़ कर जेल गये। उन्हीं दिनों मंगहा (बहराइच) के सरदार जोगेन्द्रसिंह लखनऊ में पिकेडिंग करते हुए जेल गये। बाद में भी वे सदा कांग्रेस के स्वाधीनता-संग्राम के साथी रहे। स्वतन्त्रता के बाद वे गवर्नर रहे हैं।

सेमरी (रायबरेली) के ताल्लुकेदार लाल सुरेन्द्र बहादुर सिंह भी कांग्रेस आन्दोलन के सदा सहयोगी रहे। भदरी के राजा बजरंग बहादुर सिंह 1941 के व्यक्तिगत सत्याग्रह में



जेल गए। स्वतन्त्रता के बाद वे हिमाचल प्रदेश में लेफ्टीनेन्ट गवर्नर रहे। वेरुआ (हरदोई) राज्य के ताल्लुकेदार के छोटे भाई कुंदर जंगबहादुर सिंह, उनकी धर्मपत्नी रानी विद्यावती और उनकी परिवार की रानी लक्ष्मीदेवी भी सत्याग्रह आन्दोलन में जेल गईं।

दूसरे राज्यों, ताल्लुकेदारियों और रियासतों में कहीं कांग्रेस के द्वारा, कहीं प्रजा-मण्डलो के द्वारा, कहीं खुले और कहीं गुप्त आन्दोलन हुए। कानूनी रूप में चलने वाली अंग्रेजी सरकार ही आन्दोलनों के प्रति इतनी क्रूर थी, तो निरंकुश राजाओं के क्या कहने? विरोधियों को कोड़े लगवाना, जेल भेजना, हवालात में बिना मुकदमा चलाये सड़ाते रहना, उनका घर फूँक देना, लुटवा देना और उनके रिश्तेदारों को परेशान करना, यह सब हुआ।

काशी राज्य के चकिया-जंगल-सत्याग्रह की खूब धूम मची। बात यह हुई कि पंडित कमलापति त्रिपाठी जोशीले युवक नेता थे। वे कोई ऐसा काम करना चाहते थे, जो आंदोलन की धारा में नयापन पैदा कर दे। साहित्यिक आदमी में सूझ-बूझ तो होनी ही चाहिए। त्रिपाठी जी ने खूब सोच-विचार कर चकिया जंगल का सत्याग्रह छेड़ दिया। धड़ाधड़ पेड़ कटने लगे और लगा कि जंगल में मंगल होने वाला है। साहब ने किसी के द्वारा जवाहर लाल नेहरू से फरियाद की। उस समय का एक संसमरण दो नेताओं के चरित्र पर मनोरंजक प्रकाश डालता है। जवाहर लाल जी ने कमलापति जी को इलाहाबाद बुलाया और सुबह ही सुबह जब वे आनन्द भवन पहुंचे, तो नेहरू जी अपने स्वभाव के अनुसार झल्ला पड़े—“किसके हुक्म से ये पेड़ काटे जा रहे हैं?” त्रिपाठी जी का आत्माभिमान जागा और वे बिना एक शब्द कहे लौट पड़े। नेहरू जी का हृदय तो अमृत का झरना था। झुंझलाहट की 2-4 कंकरियाँ और बाकी अमृत ही अमृत। उन्होंने पुकारा—“अरे, आपने चाय-वाय भी पी है?” त्रिपाठी जी का भी माधुर्य बह पड़ा—“चाय कहाँ पी, यहाँ तो आते ही डाँट पी है।” नेहरू जी ने आगे बढ़ कर त्रिपाठी जी को पकड़ लिया—“अरे भाई, तुम तो मुझे जानते ही हो।” और दोनों इस तरह हँसे कि जंगल काटते कुल्हाड़े आप ही आप रुक गये।

अब टिहरी की कहानी कहें: क्रूरतम दानवता और उच्चतम बलिदान की कहानी। 1930 में जब सारा हिन्दुस्तान नमक सत्याग्रह से जाग उठा, तो टिहरी राज्य के लोगों में भी जागरण हुआ। खाई क्षेत्र के लोगों ने जंगलों से कुछ साधारण सुविधायें चाहीं। उन्हें दुत्तकारा गया। गरमी बढ़ी, लोग झुत्तेजित हो गए। जंगल-अधिकारी पद्मदत्त रतूड़ी सख्त आदमी था। टिहरी का दीवान चक्रधर जियाल तो क्रूरतम शासक था ही। उसने रतूड़ी को पुलिस के अधिकार दे दिए। सख्ती बढ़ी, तो आन्दोलन ने विद्रोह का रूप ले लिया। बस फिर क्या था, भूतंगों की तरह नागरिकों को भून दिया गया और कोई एक सौ पचास आदमी शहीद हुए। टिहरी के संघर्षशील कवि ‘श्रीमन’ ने अपनी कविता में इसे टिहरी का ‘जलियाँवाला’ ठीक ही कहा।

मालूम होता है इन शहीदों की आत्माओं का तेज एक युवक की आत्मा में समा गया। यह युवक था देव सुमन। सुमन जी की तेजस्विता उस एक ही वाक्य में प्रतिध्वनित हो उठी थी, जो उन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन के आरम्भ में कहा था। गढ़वाल क्षेत्र का



एक भाग ब्रिटिश भारत का जिला था और दूसरा भाग टिहरी राज्य। दोनों भागों के बीच में गंगा बहती है। श्रीनगर के राजनैतिक सम्मेलन में सुमन जी ने दोनों भागों की अखण्डता पर जोर देते हुए कहा—“यदि गंगा हमारी माता होकर भी हमें आपस में मिलाने के बजाय हमें दो हिस्सों में बाँटती है, तो हम गंगा को भी पाट देंगे।” पंडित जवाहर लाल नेहरू के निकट वे इसी सम्मेलन में आये और बाद में सबसे छोटी उम्र में देशी राज्य प्रजा परिषद की ‘स्टैंडिंग कमेटी’ के सदस्य चुने गए।

सुमन जी और उनके साथियों की संघर्ष-कथा लम्बी है। उसे यहाँ संक्षेप में ही कहें-सुनें। वे रियासत में प्रचार करते रहे, जागरण फैलाते रहे और रियासत से बाहर आन्दोलन करते रहे। 29 अगस्त, 1942 को उन्हें देवप्रयाग में गिरफ्तार किया गया और अंग्रेजी सरकार से पडयन्त करके देहरादून जेल में नजरबन्द रखा गया। वहाँ से वे आगरा जेल भेजे गये। टिहरी जेल में उनके बड़े भाई और दूसरे जो लोग थे, उन्हें बराबर तनहाई में बन्द रखा गया, गरमी में भी सिर्फ दो लीटो पानी प्रतिदिन दिया गया, नहाना, कपड़े धोना, हजामत बनाना वजित रहा। फिर भी सुमन जी ने हाईकोर्ट से अपील की कि हमें टिहरी जेल में ही रखा जाये, पर अपील नहीं सुनी गई।

19 नवम्बर, 1943 को वे आगरा जेल से छूटे। 15 दिसम्बर, 1943 को जनरल मिनिस्टर को टिहरी लिखा गया कि मैं शान्ति की भावना से मिलना चाहता हूँ। नरेन्द्रनगर वे 18 दिसम्बर, 1943 को पहुँचे। चीफ पुलिस आफिसर ने उन्हें टिहरी जान की स्वीकृति दे दी, पर नरेन्द्रनगर से थोड़ा आगे बढ़ते ही एक पुलिस सिपाही ने उनके सिर से टोपी उतार कर उन्हें भट्ठी गालियाँ देते हुए टोपी को जूते में फेंका कर फाड़ डाला और धमकी दी—“घर गए, तो घर को उड़ा दिया जायेगा।” सुमन जी शान्त रहे और एक सप्ताह घर पर विश्राम किया। गाँव में बराबर पुलिस रही।

27 दिसम्बर, 1943 को उन्होंने टिहरी यात्रा आरम्भ की, पर चम्बा में उन्हें आदेश मिला—“आपका टिहरी जाना मना है।” सुमन जी सड़क पर ही बैठ गये और उन्होंने जनरल मिनिस्टर को पत्र लिखा—“भुझ में शान्ति की चाह है, सहयोग की भूख है, इसलिए मिलना चाहता हूँ।” वे सड़क पर ही बैठे रहे और वहीं से 30 दिसम्बर को उन्हें गिरफ्तार कर जेल में बन्द कर दिया गया। जेल में उन्हें बेंतों से खूब बार-बार पीटा गया, 35 सेर वजन की वेडियाँ पहनाई गई और राजनीति छोड़ने पर आग्रह किया गया। न मानने पर भूसा, रेत और तारकोल मिले आटे की रोटियाँ दी गयीं। उन्होंने खाना लेना बन्द कर दिया। इस पर उनका विस्तर, कपड़े ले लिये गये और जनवरी की कँपकँपाती ठण्ड में उन पर बाल्टियों, पिचकारियों से पानी फेंका गया। वे 7 दिन तक बिना खाये, पिये, बिना विस्तर, गीले फर्श पर पड़े रहे।

सातवें दिन वेडियाँ निकाली गयीं, विस्तर-कपड़े, हजामत का सामान दिया गया और अच्छे व्यवहार का आश्वासन भी। 21 फरवरी, 1944 को राजद्रोह का केस चलाया गया पर बाबू खुरेद लाल एडवोकेट को पैरवी के लिए आने की स्वीकृति नहीं दी। सुमन जी ने स्वयं पैरवी की और अपने बयान में कहा—“मेरी महाराज में श्रद्धा है। हम उनकी छत्रछाया में



उत्तरदायी शासन चाहते हैं। मैं यदि विश्वास न दिला सका, तो यहीं जीवन दे दूंगा, पर प्राण रहते टिहरी राज्य के सार्वजनिक जीवन का अन्त न होने दूंगा।" उन्हें दो साल की सजा और 200 रुपये ज़माने की सजा दी गयी।

29 फरवरी, 1944 से उन्होंने जेल के दुर्व्यवहार के विरोध में अनशन प्रारम्भ किया। राज्य से बाहर खबर न जाने देने के पूरे प्रबन्ध किये गये, पर सुन्दर लाल बहुगुणा ने जाने कैसे अनशन के समाचार सब पत्रों में छपा दिये। कर्माचल-केसरी पंडित बद्रीदत्त पाण्डेय केन्द्रीय असेम्बली के सदस्य थे, उन्होंने पूछताछ की, तो जेल का व्यवहार बदला गया और अनशन समाप्त हो गया, पर सुन्दर लाल बहुगुणा को महीनों हवालात में सड़ाया गया।

एक दिन सुमन जी संघ्या प्रार्थना कर रहे थे। इस पर उन्हें डण्डों से और बेंतों से पीटा गया। सुमन जी ने महाराज को पत्र लिखा—आप मेरे मुकदमे की अपील सुनें, मुझे पत्र व्यवहार की स्वतन्त्रता दें और प्रजामण्डल को स्वीकृति दें। 15 दिन उत्तर की प्रतीक्षा कर उन्होंने 3 मई, 1944 से अन्तिम अनशन प्रारम्भ कर दिया। उन्हें खूब डण्डों-बेंतों से पीटा गया और फिर भारी बेड़ियाँ डाल दीं। वे न झुके तो 15 दिन बाद बेड़ियाँ निकाल दीं।

48वें दिन हेल्थ मिनिस्टर वेली राम ने खुद जेल पहुंचकर सुमन जी को बलपूर्वक दूध देने की कोशिश की, पर उन्होंने उल्टी कर दी। 4 अगस्त को महाराज का जन्म-दिन था, पर महाराज नरेन्द्र नडल की मीटिंग में चले गए और जन्म-दिन पर सुमन जी को छोड़ने का आदेश अपने युवराज को दे गए। महाराज के जाने पर जब सुमन जी से कहा गया कि तुम अनशन छोड़ दो, तुम्हें 4 अगस्त को छोड़ा जा रहा है, तो पूरी ताजगी में सुमन जी ने कहा—“क्या मैं छूटने के लिए अनशन कर रहा हूँ? मुझे छोड़ा गया, तो मैं अपने उद्देश्यों के लिए बाहर भी अनशन जारी रखूंगा।” दुष्टात्मा डा० वेलीराम ने, कहा जाता है कि, युवराज (टीका साहेब) मंगदेन्द्रशाह के इशारे पर झूठ-सूठ सुमन जी को नमूनिया बताकर कुनैन के इन्ट्रावीनस (नस के भीतर) कई इन्जेक्शन जबर्दस्ती लगाये। इससे नसों में खुश्की दौड़ गयी और सुमन जी पानी-पानी चिल्लाते हुए 25 जुलाई, 1944 को टेरेंस, मेविस्वनी और यतीन्द्र नाथ दास की तरह शहीद हो गये। रात के अंधेरे में उनका शव एक बोरी में सीकर पास ही पड़ती भिल्लमना नदी में फेंक दिया गया।

ये सब राज्य, ताल्लुकेदारियाँ और रियासते स्वतन्त्र भारत में उत्तर प्रदेश के भिन्न-भिन्न जिलों में मिला दी गयीं। जब 18 मई, 1949 को टिहरी राज्य का विलय महोत्सव हुआ, तो राष्ट्र का तिरंगा झण्डा हाथ में लिए शहीद देवसुमन की तपस्वी अर्धांगिनी विनयलक्ष्मी ‘सुमन’ ही सबसे आगे थीं। यह इतिहास का अभिन्न अंग ही तो था, उस महान शहीद के प्रति।





## 22 : कलम भी निष्क्रिय नहीं रही

उत्तर प्रदेश के स्वाधीनता संग्राम में क्रान्तिकारियों, कांग्रेस-कार्यकर्ताओं, राजा-ताल्लुकेदारों और किसानों ने ही भाग नहीं लिया, साहित्यकारों ने भी पूरा योग दिया; निश्चय ही उनका योग उनके ढंग का था, पर हम उसे किसी दूसरे वर्ग के योगदान से नीचा कहकर उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि जिस उत्तर प्रदेश में प्रेमचन्द जी ने 1918-19 में 'प्रेमाश्रय' उपन्यास लिखा और उसमें जमींदारों के घोर अत्याचारों का चित्रण करने के बाद जमींदार पुत्र के द्वारा स्वेच्छा से जमींदारी के समाप्त कराने की घोषणा कराई, उसी उत्तर प्रदेश में 1937-38 में टेनेसी ऐक्ट बना और उसी उत्तर प्रदेश में देश भर में सबसे पहले 1945-46 में ही जमींदारी-उन्मूलन की बात तै हुई ?

राष्ट्रभाषा हिन्दी के भीष्म पितामह हरिश्चन्द्र को लोकमानस द्वारा भारतेन्दु माना जाना और उनका 'भारत दुर्दशा' से पीड़ित होना क्या महत्वहीन है ?

राष्ट्रीय रंगमंच को जिन नाटककारों ने लोकजीवन में प्रतिष्ठित किया, उनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद नारायण प्रसाद बेताब, आगा हथ, राधेश्याम कथावाचक, विश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' और माधव शुक्ल का नाम उल्लेखनीय है। आगा हथ के सिवा सबकी उत्तर प्रदेश ही लीला-भूमि है। राधेश्याम जी का नाटक 'अभिमन्यु' एक पौराणिक रचना थी, पर उसके हास्यखण्ड में रायबहादुर की जो झाँकी दी गई, उसने 'टोडी बच्चा हाथ-हाथ' के हजारों-हजार नारों से भी अधिक सरकार-परस्तों की दुर्गति की। 'व्याकुल' जी की पंक्तियाँ—'गुलाम होकर बुरा है जीना, है मरना अच्छा स्वतन्त्र होकर'—घर-घर गूँजी थीं।

'स्वराज्य' उर्दू साप्ताहिक, जिसके आठ सम्पादकों ने सख्त से सख्त सजाये भोगी थीं, आदि सम्पादक शान्तिनारायण भटनागर उत्तर प्रदेश के खतोली कस्बे (जिला मुजफ्फर



Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri  
 नगर) ने जन्मे थे। 'भारत में अंग्रेजी राज' के लेखक और 'कर्मवीर' के सम्पादक पंडित  
 सुन्दर लाल झा जन्म भी वहाँ हुआ। अंग्रेज शांकर विद्यार्थी की पत्रकारिता को कौन नहीं  
 जानता? वे राष्ट्रीय पत्रकारिता को युग के अनुरूप एक टिकाऊ रूप देने में सबसे पहले सफल  
 हुए। इस पत्रकारिता को बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने ऐसी भावुकता दी कि वह जनमनमोहनी  
 हो गई। सम्पूर्णनरे जी, श्रीप्रकाश जी, श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल, रमाशांकर अवस्थी, कृष्णकान्त  
 मालवीय, दशरथ प्रसाद द्विवेदी, रामरख सिंह सहगल, श्रीराम शर्मा, हरिशंकर शर्मा,  
 रामलाल त्रिपाठी, बेनी माधव बाजपेयी, रामाराव, चलापति राव, पंडित वेंकटेश्वरारायण  
 तिवारी, सुरेश भट्टाचार्य, पद्मकान्त मालवीय आदि पत्रकारिता के ऐसे नर-रत्न हैं, जिन्होंने  
 पत्रकारिता को ही नहीं, स्वाधीनता के संघर्ष को भी अपने खून से सींचा। यदि बनारसी दास  
 चतुर्वेदी, अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, सैयद अब्दुल्ला 'वरेलवी' और द्वारिका प्रसाद मिश्र आदि  
 उत्तर प्रदेश की ऐसी सम्पादकीय विभूतियाँ हैं, जो उत्तर प्रदेश से बाहर जाकर प्रदीप्त हुईं,  
 तो पराङ्कर जी, गदड़ी प्रेसी मंडल विभूतियाँ हैं, जिन्होंने दूसरे प्रदेशों से आकर उत्तर  
 प्रदेश को कृतार्थ किया। स्वराज्य, कर्मवीर, प्रताप, वर्तमान, आज, दम्पुदय, नेशनल हेराल्ड,  
 इन्डिपेंडेंट, विकास और स्वदेश कागजी देह होकर भी वैचारिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता के अजेय  
 नोकावीर हैं तो थे।

मैथिलीशरण गुप्त ने 1912 में 'भारत-भारती' लिख कर राष्ट्रीयता की वेदी को  
 जगाया। उसी युग में शहीदों के शहीद कवि ओमप्रकाश ने गाया 'सरफरोशी की तमन्ना  
 अब हमारे दिल में है।' गया प्रसाद शुक्ल देशभक्ति के नशे में झूम कर 'सनेही' से एकदम  
 'त्रिशूल' हो गए। ब्रज नारायण चक्रवर्त ने तो उर्दू कविता की धारा को नया मोड़ ही दे  
 दिया। स्वामी नारायणानन्द सरस्वती ने 'पीयर सोप बिना नहि चमके मित्रों, चन्द्रवदन  
 अपना; विलासप्रियता में फँसकर हो गया देश निर्धन अपना' लिखकर ख्यालबाजी को पहली  
 बार राष्ट्रीयता से जोड़ा। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' व्यक्तिवादी सुख-दुःख की धारा के प्रवर्तक  
 कवि थे, पर उनके विप्लव-गान ने 1924 से 1928 तक के साम्प्रदायिक वातावरण में  
 राष्ट्रीयता की मशाल जलाये रखी। इस दृष्टि से माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'फूल की  
 चाह' के सिवा किसी और कविता को 'नवीन' जी के विप्लव गान के साथ नहीं रखा जा  
 सकता। युगप्रवर्तक कवि 'निराला' का अभिनन्दन किए बिना आगे कैसे बढ़ा जा सकता है,  
 जिन्होंने राष्ट्र की आत्मा का साक्षात्कार किया। सुमित्रानन्दन पन्त ने भी शीशों की तरफ  
 झाँका, पर उनकी सीमा थी 'बौद्धिक सहानुभूति'। जोश मल्लिहाबादी अपनी कविताओं के  
 कारण शायरे इनकलाब कहलाये, पर रघुवीरशरण 'मित्र' ने 'परतन्त्र' लिख कर परतन्त्रता  
 पर ऐसी चोट की कि पुलिस, उसके प्रकाशक का ही पता खोजती फिरी। सागिर निजामी ने  
 अपनी कविताओं में एक ऐसा कोमी तरन्नुम पैदा किया कि जैसे अगरबत्ती की महक हो और  
 'नजीर' बनारसी? वे तो अपने समय सांस्कृतिक दृष्टि के कारण राष्ट्रीयता के प्रदीप ही  
 हो गये। छैलविहारी दीक्षित 'कं क' अपनी कविताओं के कारण अंग्रेजी सरकार की आँखों  
 के कंठक रहे। जगदम्बा प्रसाद 'हिंरी' और अनूप शर्मा को कैसे भुलाया जा सकता है?  
 सोहनलाल द्विवेदी तो पूरे ही राष्ट्रीय-आन्दोलन के बीच कविता की मशाल लिए खड़े रहे।



उनकी पंक्तियाँ— 'हैं जहाँ तू तभी अर्थात् एक सिद्धांत को हाथ में लेकर जो तसल को  
 आप पर खूब गायी गई और खादीगीत बापू, मेरे प्रताप आदि कविताओं ने बहुतों को  
 प्रेरणा दी। यशपाल ने अपने मासिक 'विप्लव' और दूसरे मासिक के द्वारा क्रांतिकारी चेतना  
 के इस खेत को खूब सींचा, जो 'बन्दीजीवन' से अंकुरित हुआ था। शेमन 'मुमन' ने देश  
 के लिए खूब सहा और खूब कहा भी। श्रीराम शर्मा 'प्रेम विद्रोही भी रहे और विद्रोही कवि  
 भी। गुलाम अनवर साबरी की कविताएँ उनके ज्ञानदार गले का साज पाकर जलसों में भी  
 गुँजी और जेलखानों में भी। कलम के कारनामों का पूरा इतिहास यहाँ कहाँ दिया जा सकता  
 है ? संक्षेप में यही कहना ठीक होगा कि उत्तर प्रदेश में स्वाधीनता के लिए यदि खड्ग, हथ  
 और तकली ने काम किया, तो कलम भी निष्क्रिय नहीं रही।





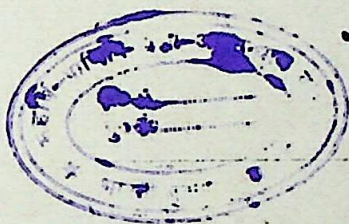
## 23 : रात में सूरज आज उगा

दूसरा युद्ध समाप्त हो गया और अंग्रेज विजेताओं में एक रहे, पर स्थिति यह थी गांधी जी सनी हिन्दुस्तान एक नए ख्यालीस की जनक्रान्ति कभी भी कर सकता था, पर अंग्रेजी सरकार अब उससे टक्कर लेने की शक्ति न रखती थी। अंग्रेजों ने समझ लिया कि अब हमें हिन्दुस्तान से जाना है, इसलिए उनकी यह विन्ता समाप्त हो गई कि कैसे यहाँ रहें, उनकी विन्ता का मुँह बिन्दु हो गया—कैसे जायें कि जाते-जाते भी लाभ उठायें? कूटनीति ही उनकी राजनीति रह गई। एक हाथ से उन्होंने साम्प्रदायिकता की भाग में योजनापूर्वक धी डालना शुरू किया, दूसरे हाथ से योजनापूर्वक अपनी विदाई की बातचीत आरम्भ की।

ये शीलों से छोड़ दिये गये और विधान सभाओं के नये चुनाव की घोषणा की। चुनाव में उत्तर प्रदेश ने कांग्रेस को पूर्ण बहुमत दिया। सामन्तवाद के गढ़ और भी टूट गये, पर साम्प्रदायिकता तेजी पर रही। केन्द्र में भी कांग्रेस ने ही अन्तरिम सरकार बनाई, पर बाद में वायसराय बाबेल मुस्लिम लीग को भी उसमें ले आया। इंग्लैंड से एक कमीशन आया, लम्बी बातें चलीं, बाबेल पदच्युत हुए, माउन्टबेटन वायसराय होकर आये और स्थिति ऐसी बन गई कि देश के बंटवारे को मान लेना ही एकमात्र मार्ग दीख। भारत की स्वतन्त्रता और बंटवारे की एक साथ घोषणा हुई। 14-15 अगस्त, 1947 के बीच की रात में ठीक बारह बजे स्वतन्त्रता का सूर्य उगा। नई दिल्ली में प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने उस सूर्य का स्वागत और अभिनन्दन किया, तो उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में मुख्य मंत्री पंडित गोविन्द वल्लभ पंत ने। सभी जगह एक ही गूंज थी :—

जनगणमन-अधिनायक जय हे भारत - भाग्यविधाता ।  
पंजाब सिन्धु गुजरात मराठा द्राविड़ उत्कल बंग  
विन्ध्य हिमाचल यमुना गंगा उच्छल जलधितरंग  
तब शुभ जग तेव शुभ आशिष मागे गाहे तब जय गाथा ।  
जनगण मंगलनायक जय हे भारत-भाग्य विधाता ।  
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय, जय हे ॥







---

सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित एवं  
यूनाइटेड ब्लाक प्रिण्टर्स, लखनऊ द्वारा मुद्रित ।

---